

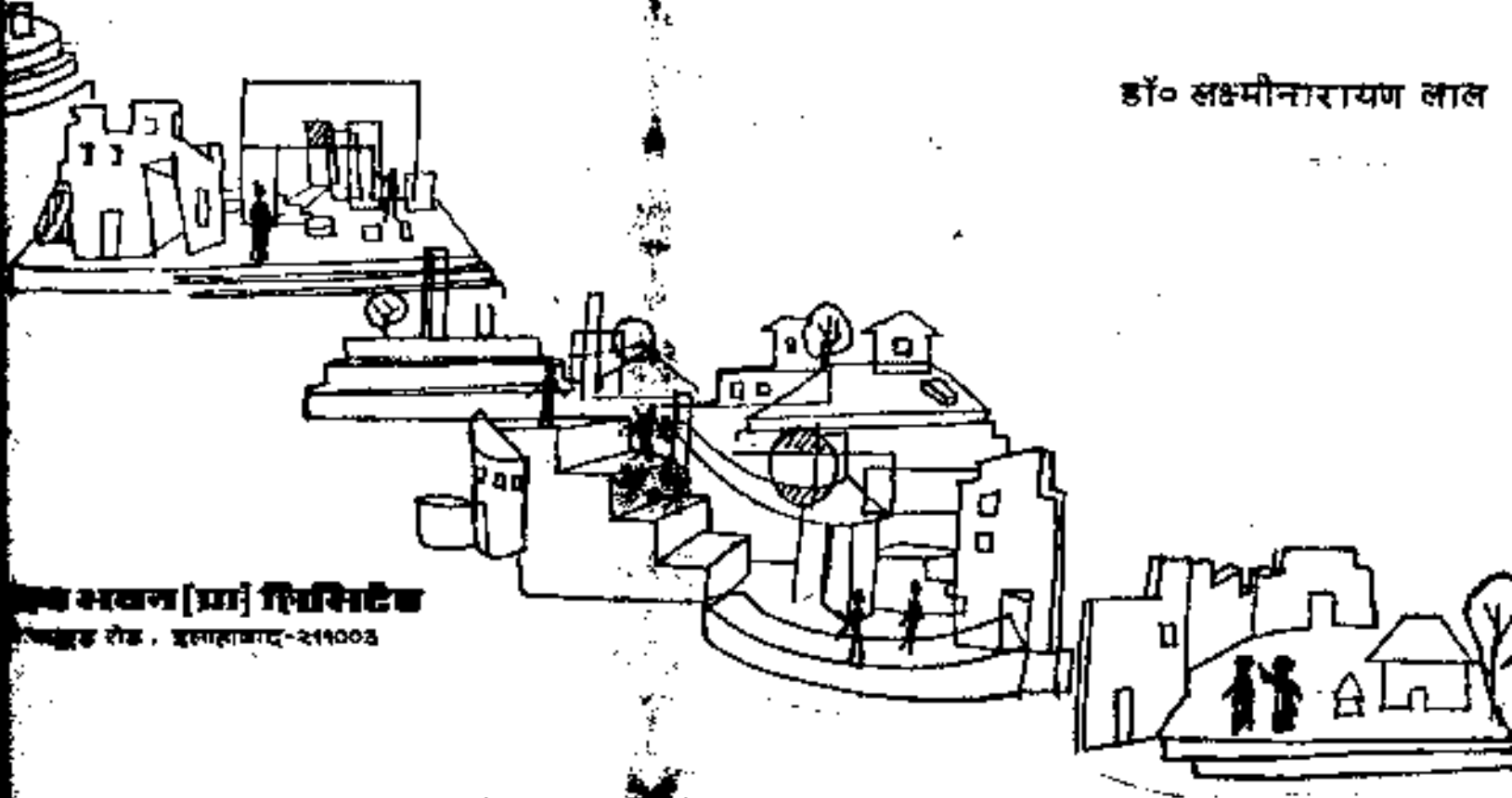
संस्कृत हिन्दु

नाटक  
और  
रंगमंच

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल

# आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल



श्री अखिल (प्रा) लिमिटेड  
कॉम्प्लेक्स रोड, इलाहाबाद-211003

Adhunik Hindi Natak Aur Rangamanch

By

Dr. Lakshmi Narain Lal

'दरपन' के  
प्रियवर प्रोफेसर साधुमूर्ति को समर्पण

पुस्तकालय संस्करण : ३०.००

३० १९५६

© लेखक

विद्यार्थी संस्करण : २०.००

१००० मि०, ३३, के०पी० कान्ठ रोड, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित  
श्रीराम प्रिन्टर्स, २५७, हरिद्वार, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

## अनुक्रम

	•	
आधुनिक रंगमंच	<input type="checkbox"/>	६
आधुनिक रंगमंच में नाटक का जीवन सन्वर्ध	<input type="checkbox"/>	२१
हिन्दी रंगमंच और नाटक	<input type="checkbox"/>	२६
स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी रंगमंच		
आधुनिक हिन्दी नाटक	<input type="checkbox"/>	६५
कमलेश्वर प्रसाद का नाट्य		
समस्या नाटक नहीं, यथार्थवादी चारा		
सांस्कृतिक-नाट्य चारा		
गौतम नाट्य की परम्परा		
दुर्गाजी और यथार्थवादी नाट्य चारा		
हिन्दी दुर्गाजी का स्वच्छन्द और विकास		
हिन्दी नाटक और नया नाटक		
परिशिष्ट	<input type="checkbox"/>	१०६
ज्ञान का परिष्कृत नाट्य		

## आधुनिक रंगमंच

आधुनिक रंगमंच काही ही आधुनिक यथार्थवादी धारणा काया है। और आधुनिक यथार्थ हमारे युग के मनोरंजन-क्षेत्र में कितना व्यापक और महत्त्व हो गया, इससे सभी परिचित हैं। दिग्गज-धुन को दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ 'किमरा, और 'रेडियो' ने हमारे यथार्थ की अपार शक्तियों में सत्य विन, स्वरूप तथा मानव-संवाद की यथार्थ बोधी—प्रकृति के, जीवन-कन्द-जगत् के सत्य स्वर के साथ—हमारे सम्मुख रख दी है।

मानव मनोरंजन जगत् में फिल्म (किमरा) अपनी इस यथार्थवादी कला में निरन्तर विकसित होती जा रही है। इस माध्यम से जीवन अपने समग्र रूप में, अपनी समूची प्रकृति के साथ, सभी वातावरण के बीच में अपने समस्त रंगों से सजागर हो रहा है। इसकी तुलना में आधुनिक रंगमंच अपने माध्यम माध्यम से जीवन का चित्रण विन, चित्रण अंश और रूप, बर्णक-वाक्य के साधने रख पाता है, वह फिल्म के सामने कितना सीमित और ग्यून है। चायव इतीतिह्य इस यथार्थवादी रंगमंच से, इसकी सुनठिठ माध्यम-परंपरा (वेननेइप्ले) से विरेन्नेतो, वेकट, टी० एच० इतिवट सावि ने इस कहर विद्रोह किया और अपने रंगमंच की अधिक प्रकृत, अपार तथा काव्यमय बनाने का प्रयत्न किया।

किन्तु पश्चिम के उस सीमित यथार्थवादी रंगमंच की अपनी असीम शक्ति थी थी, जिसके माध्यम से इत्यन और वेकव ने अपने-अपने श्रेष्ठ नाटक 'बॉल्ल ह्यरुस', 'पोस्ट', और 'सीगल' की रचना की। येरे विचार से इन माध्यमकृतियों की छोड़कर इत्यन और वेकव के क्षेत्र अन्य नाटक अपेक्षाकृत कल्पनाहीन, कल्पहीन, यथार्थवादी रंगमंच के उदाहरण हैं। इनका सुप्रभाव जाने पश्चिम के रंगमंच पर किस तरह पडा, इसकी चर्चा में बाव में कर रहा है।

यह उल्लेखनीय है कि 'पोस्ट', 'बॉल्ल ह्यरुस' और 'सीगल' का रंगमंच महत्त्व यथार्थ का साधारण विप रूप है, ऐसे इनमें मानवतापूर्ण, ठोस कथा के

वहारे बहुमुखी जीवन के प्रति अपनी एक विशेष कलात्मक व्यंग्यता है। ये नाट्यकृतियाँ अपने वास्तविक रंगमंच की अभिवृत्ति में निरूपण ही नहीं काल्पनिक रंगमंचों तथा काव्यमयी वृत्तियों से निर्मित हैं। अतएव इनके मंच में केवला और रेडियो की शक्ति से परे का जीवन, उनकी सम्श्लेषण-शक्ति से परे का भाव अभिव्यक्त है।

इसलए और केवल के शेष अन्य नाटकों की शक्ति, उनके भाव-बोध अवेका-कृत हीनता है। आधुनिक रंगमंच में यह कलात्मक सीमा है प्रकृतवादी दृष्टि की, उसकी रंगमंचा की, जिसकी शरद सीमा है 'रेखाएँ का रंगमंच'—वहाँ न नाटक से कथावस्तु है, वहाँ न नाटक में नायक है, न वहाँ जीवन की मांसमत्ता है, न विराट इन्द्र है। सब कुछ वहाँ केवल 'शुद्ध' और तर्क पर आधारित है।

वस्तुतः यह है आधुनिक रंगमंच की नवानक सीमा, जिसके कलात्मक रूप फिल्म और रेडियो (टेलिविजन) से इसे बेहतर पराजित किया।

किन्तु इस आधुनिक रंगमंच की अपनी यह शक्ति भी है, जो फिल्म, रेडियो तथा टेलिविजन से अपराधीय है। यह शक्ति है इसके काव्यतत्त्व में, इसके मानव रंगमंच में, जिसे काफ़ी से 'रंगमंच का काव्य' कहा है। पर नाटक का यह काव्य केवल उसके कथोपकथनों में नहीं है, जैसे कि पश्चिम में मेक्समिलियर और हमारे यहाँ जवाहरकर प्रसाद और टिपोर में बिद्यमान है; वरन् यह काव्यत्मकता है नाटक में व्याप्त अभिनयशक्ति वृत्ति में, पात्रों में लीपी अभिनय-कला में, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमें नाटक के प्रस्तुतीकरण में होती है जयन्ता नाटक पढ़ते समय मन के मंच पर यदि उसे अभिनीत होते हुए देख सकें, तब उसमें व्याप्त रंगमंच का काव्यत्व हीन हो पा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि जिस नाट्यकृति का सुनाधार यह अभिनयशक्ति वृत्ति होगी, वही सफल श्रेष्ठ आधुनिक रंगमंच का उदाहरण है। शेष सब अर्थहीन है। यथार्थवादी रंगमंच के नाम पर केवल विस्तार (डिटेल्) देना, मंच पर वस्तु-आवृत्ति, वस्तुएं गिनना वास्तविक रंगमंच की व्यवसाय करना है। क्योंकि केवला-शक्ति के आगे कौन गिनना और क्या 'डिटेल्' दे सकता है। वस्तुतः आधुनिक रंगमंच की शक्ति वहाँ से शुरू होती है, जहाँ केवला और रेडियो की शक्ति समाप्त हो जाती है। यह शक्ति-स्रोत है यथार्थ और कल्पना के कलात्मक सम्मेलन में। इन दोनों तत्वों की सम्मिलित शक्ति से जो रंगमंच बनता है, उसमें कला का निर्माण कटमाओं के जयन की अपेक्षा पात्रों के कार्य, उनके कर्म तथा उनकी चेतना के विकास, संघर्ष और अर्थबोध के आधार से होता है। जेठना का यही धरातल रंगमंच में काव्य का

जीव बनता है शक्ति, एक रंग उसके कार्य, आधार बनता वास्तविक के होता है, जिसे रंगमंच एक विश्व की

दुर्लभ है प्रायः गिनती और मुख्यतः और हाँ के इतिहास का स्थान पर आ स्वभावतः नहीं, न अभि स्वतन्त्र के नाट्यमेवम् आधुनिक रंग आधुनिक रंग से हुनारी नि आधुनिक रंग स्वभावतः हुई है, क्योंकि नहीं तो र का पूरा र वर्तमान में पा साधकसम्पन्न के स्तर से वे फिर जो हुन पात्र से जय

स्रोत बनता है। इसकी यही आन्तरिक बन्धिति समूचे नाटक में एक क्षण, एक पंक्ति, एक रंगमंच-चित्र की प्रतिष्ठा करती है। इसमें एक व्यक्ति के महत्, उसके कार्य, उसके 'सुख' की अपेक्षा नाटक के सभी पात्रों के समूचे कार्य को बाधित नमाना जाता है। उसके बाह्य और आन्तरिक सम्बन्धों से, उसके पारस्परिक चेतना तन्त्रों से समूह एक व्यापक कार्य से 'यह नया नाटक निश्चित होता है, जिसे भारत ने 'इतिहास की अथवा अथिक्त वर्तन' कहा है।

रंगमंच की यह कल्पना अथवा रंगमंच की सीमाओं पर नियन्त्रण ही एक विषय की दृष्टि है।

दुर्भाग्य से भारतीय साधुनिक रंगमंच में अभी तक जो कोई एककों से पूर्व प्रायः किसी नाट्यकृति की किसी नहीं, उनमें दृष्टि कल्पना-शक्ति, वर्तन-उत्पत्ति और सुकृतः अभिनय-प्रतिष्ठा कृति का अभाव था। उन पर कल्पना, चेतन और तर्कों के उन अथवा रंगमंचों की उत्पत्ति थी, जिनमें वर्तन के स्थान पर इतिहास था, कलात्मक मयार्थ के स्थान पर तर्क-संगत मयार्थ था, कल्पना के स्थान पर यही केवल वाद-विवाद था।

स्वभावतः वे भारतीय नाट्यकृति में न भारतीय पाठकों को ही रुचिकर नहीं, न अभिनेताओं और वर्तकों को ही आकृष्ट कर सकीं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समूचे भारतभर में सभी क्षेत्रीय रंगमंच के स्तर से नाट्यलेखन में तीव्र गति आयी और चारों ओर रंगमंच की भांग के कारण साधुनिक रंगमंच के विषय में सभी ओर चिन्ता शुरू हुई। और पश्चिम के साधुनिक रंगमंच पर जब हम अपने दिन प्रयोग और इतनी क्रांतियों देखते हैं तो हमारी चिन्ता यह अनुभव कर और भी अधिक बढ़न ही जाती है कि साधुनिक रंगमंच का अभाव कोई निश्चित कला-माध्यम ही नहीं है।

स्वभावतः यही चिन्ता आज नाट्यलेखन-क्षेत्र पर सबसे ज्यादा बढ़न हुई है, क्योंकि आधिकारिक रंगमंच की कुरी तो बड़ी नाट्यकृति ही है। यह नहीं तो रंगमंच प्रयोग कहाँ ? यह सत्य है कि साधुनिक रंगमंच का पूरा रंगमंच हमें पश्चिम से चिन्ता है। पर सोचने की बात है, वर्तमान में पश्चिम की इस संवर्ध में क्या कहाँ है ? इतनी अबाध परंपरा, इतना साधुनिक उतका साधुनिक रंगमंच, फिर भी वर्तमान समय में नाट्यलेखन के स्तर से वे जो अपनी नवी दिशा और रंग-अभ्येयन के प्रति चिन्तित हैं। फिर तो हमारी चिन्ता, हमारी बीजा उनसे सुगुनी-सुगुनी हुई, क्योंकि हमारे पास तो अपनी साधुनिक रंगमंच की न कोई वैसी सम्पन्न परम्परा ही नहीं

है—न नाट्यमेखन की दृष्टि से, न प्रस्तुतीकरण के दरासन से। और वह चिन्ता, वह पीड़ा भारतवर्ष में जाते जाते जाती पीड़ियों तक तीव्रतर होती जाएगी, यदि हम अब भी अपनी विद्या में नहीं चलेंगे। यह विद्या कहाँ है?— हमारे अपने हृदय में, हमारे अपने रसकों में, हमारी अपनी धूमि में, हमारे अपने प्रशासकों में, हमारी अपनी पीड़ा में।

नाटक का सीधा संबन्ध हमें अपने समाज और जीवन के जीवन होना। जनसमुदाय को अपने रंगमंच से जोड़ने के लिए नाटककार को स्वभावतः ऊर्षी के रमारंभ में उतरना होगा। इस विद्या में बहुत शक्ति बिजली पड़ी है लोक-रंगमंच की, जिसकी परम्परा सदैव अन्धकार और सुदृढ़ है।

नये रंगमंच के उदय में एकमात्र विद्या है पहले नाटककार की अपनी रंगदृष्टि। आधुनिक रंगमंच ने उस क्षेत्र में आज अपने विकसित रंगमिथ्य से, अपनी प्रस्तुतीकरण-कला से वह सिद्ध कर दिया है कि नाटक सिधला मेखक की अपनी एकता कला नहीं है; वरन् नाट्यमेखन बस्तुतः नाटककार से प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक की प्रतिभा की मांग करता है—वह अभिनेता, रंगचिह्नी की कला को सृज्य अपेक्षा करता है, चाँहि नाटक अपनी अभिनयार्थिका शक्ति के साथ मंच पर रंगकला की सृज्य उपलब्धि को प्राप्त कर सके और उसमें निर्देशक तथा अभिनेता को भी नाटककार की ही शक्ति अपनी-अपनी सम्बन्धात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति का समस्त और क्षेत्र मिल सके। नाट्य-कृति में रंग-संसाधनार्थ इतनी व्याप्त हों कि रंगमंच के सभी वर्गों को अपनी कल्पना और प्रतिभा विद्याने का सुभवसर मिल सके। इसी को कहेंगे 'समाज का रंगमंच', 'सब वर्गों का रंगमंच'। नहीं तो अहंकारी नाट्य-रचना से हमारा सारा रंगकर्ष्य पिछली पीढ़ी के नाटककर्म की शक्ति एक उबाने वाली उदास शक्ति और कलाहीन व्यापार होकर रह जायेगा।

निश्चय ही वह भारतीय रंगमंच के लिए अत्यन्त शुभ शरण है कि वर्तमान नाटककार अपने रंगमंच में जाकर उसका अभिन्न अंग बन, अपनी वेकनकला को हृदयंगम करने सवा है। इन शुभ क्षणों में मुझे सृज्य ही एक सहस्रपूर्ण पत्र की सुधि हो रही है, जिसे मेघमीलन ने गार्डेन क्षेत्र को एक पत्रिका में लिखा था।

'कवि को रंगशास्त्रा में काम करने वाले अन्य कलाकारों का मित्र या साथी होना चाहिए। उसे और अन्य कलाकारों को अपनी-अपनी क्षमताओं

के प्रयोग के  
प्रदान करते  
किती रंगशास्त्र  
परिभाषा होता

'रंगशास्त्रा  
के बिना काम  
अपने भरसक  
है।'

सुखमता: य  
धर्म बला क्या

नाटककार  
विशेषकर हिन्दी  
में कहा, 'रंग  
मिथे जावें। प्र  
और क्षेत्र ह  
कहा, 'हम य  
संसार भरने क

केही तीक्ष्ण  
की एक दूसरे से

1. "A poet  
in the t  
king top  
opportu  
this hap  
"No wa  
fellow-w  
common

२. समयोकर प्र  
संस्कारण।  
३. 'साधुटी',



के प्रयोग के लिए एक-दूसरे को, जहाँ तक संभव हो, अधिकतम व्यवहार प्रदान करने के उद्देश्य से मिल-जुलकर काम करना चाहिये। कम से कम किसी किसी रंगशाळा में ऐसा हो पाता है तब कोई खेप्ट अपभक्ति ही इसका परिणाम होता है।

'रंगशाळा का कोई भी कार्यकर्ता अपने कार्य छापी कार्यकर्ताओं की कला के बिना काम नहीं चला सकता; प्रत्येक को वही छात्राध्य की सिद्धि के लिए अपने भरसक सब कुछ करना चाहिए, जो इसके माध्यम से असाध्य बन जाता है।'<sup>१</sup>

सुस्पष्ट: यह पत्र आधुनिक रंगमंच के नाटककार के लिए उसका महान् इर्म बना गया है।

नाटककार और प्रस्तुतकर्ता का ऐसा अभिन्न संबंध। भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र में इस दर्जा के ठीक विपरीत घटना घटी थी। नाटककार ने कहा, 'रंगमंच के संबंध में यह सारी प्रयत्न है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिए रंगमंच ही।'<sup>२</sup> और ठीक इसके विपरीत उस काल के पारसी रंगमंच के प्रस्तुतकर्ता ने कहा, 'हम यहाँ इसके (रंगमंच से) क्या कमाने जायें हैं, कुछ साहित्य-संसार भरने नहीं।'<sup>३</sup>

किसी तीव्र प्रतिक्रिया भी एक-दूसरे के दृष्टिकोण में। किसी विवाद उपेक्षा भी एक-दूसरे से। न नाटककार के लिए या अपने काल के रंगमंच में जाने

१. 'A poet should 'the fellow' of the other artists working in the theatre. He and the other artists should be working together to give to each other the greatest possible opportunities for the exercise of their powers. Whenever this happens in any theatre something noble is achieved. "No worker in the theatre can do without the art of his fellow-workers; each should bring all that he can to the common stock, which thereby becomes uncommon."

—The 'Mask', July, 1924

२. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य विबन्ध', पृ० १०, पहला संस्करण।
३. 'माधुरी', वर्ष २, खण्ड १, संख्या ३, पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक।

को, न प्रस्तुतकर्ता टीयार का नाटककार के साथ जाने को, इसलिए दोनों बहुरे अपूर्ण रहे। इस कच्चे कार का मयामका सुप्रभाव हमारे रंगमंच पर पड़ा। हमारे देश का आधुनिक रंगमंच इस तरह अपने इस निर्माण और उदयकाल में ही अपूर्ण रह गया।

पारसी रंगमंच-काल का प्रस्तुतकर्ता स्वभावतः अपने इस उद्देश्य में गया था कि उसे अधिक से अधिक जन प्राप्त हो सके। उसको यह कठई विचिन्ता न थी कि वह क्या क्या रहा है, उसकी रचना क्या है, वह रचना कैसी रंगसज्जा नहीं है। कैसा प्रकाश और कैसा सम्पूर्ण रंगचित्रण, वह रचना किस काल पर आधारित है, किस युग की व्यञ्जना है उसमें, उसके सिद्ध कैसा वातावरण और कैसा अभिन्तव्य चाहिये, इन बातों की उसने उदा भी विचिन्ता न की। प्रदर्शन। माघ प्रदर्शन। अब कि सत्य यह है कि रंगकला न मात्र प्रदर्शन में है न केवल वयार्थ-दर्शन में, बल्कि इसकी व्यञ्जना है भाषानुभूति में, कल्पना और विचार-दर्शन के सम्मिलित सत्य, अनुकूल रंगमिथ्यता तथा रेखांकन की स्वर-शैली में, सम्भव्य में। सभी उद्देश्यों से प्रकाश की यह एकता अज्ञात होती है, जो सीधे हमारे दृश्य, मन, प्राण और चित्त को स्पर्श करती है।

रंगकला का बही प्रतिमान आधुनिक रंगमंच की विशेषता है। वहाँ नाट्यकला एक कला है, ठीक वही प्रकार प्रस्तुतीकरण को भी कला की भूमिका और संज्ञा प्राप्त हुई है। फिर भी ये दोनों कलाएँ एक-दूसरे से अलग हैं, एक-दूसरे से उद्भूत हैं। नाट्यकला के विषय में यह अवधारणा पश्चिम में उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में ही प्रतिष्ठित होने लगी और बीसवीं शती में वे देश इसकी पूर्णता को प्राप्त हो गये।

किन्तु हमने वहाँ अपनी स्वतन्त्रता के साथ से पहली बार रंगमंच-क्षेत्र में इस कला-स्तर से सोचना शुरू किया। नाटक और उसका प्रस्तुतीकरण एक स्वामय कला है; आज चारदशवीं से सभी महत्त्वपूर्ण नाटककार और प्रस्तुतकर्ता इस रंगकला-प्रतिमान से सहमत होकर अपना कार्य कर रहे हैं। पर इस संदर्भ में वह प्रश्न आज हमारे सामने उत्पन्न उभरता है—हमारे नाट्यकाल की दिशा क्या हो? वयार्थ, अथवा कल्पना? वा शोनों का सम्भव्य? इस प्रश्न का उत्तर हमें अपने दर्शक की मनोभूति के सीतल से ढूँढ़ना होगा। आज भारतीय दर्शन क्या है? कहां है?

रंगमंच, यह  
बहुत ही छोटे-से  
क्षेत्र का वर्तक  
वर्षक के परन्तर  
फलतः अच्छी से  
बही संगीतमिथ्य  
श्रीमान्य मा  
विश्वे 'मिथ्य' ह

स्वभावतः  
रंगमंच। ये स  
विषय, इनके य  
वर्तमान को उसके  
में जो उन्हें वां  
सके। क्योंकि व्या  
की समस्या है।  
दुर्भाग्य यह है कि

तो रंगकला  
का सर्व-व्य-व्य  
दूसरी ओर  
जो वर्तमान समय  
सम्भावनाएँ हैं, स

ठीक इन दोन  
पश्चिम के प्रायः  
स्पेन और आयरलैंड  
उनके 'कलादिपक्ष'  
परिचाय यह है कि  
रंग-मंच से स्वशा  
इस दृष्टि से एक  
मंकर प्रकाश के स

बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण भारत के अन्तर्गत, उनमें से भी बहुत ही छोटे-से क्षेत्र को। लोककला तथा समूचे भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र का वर्षाक फिल्म का वर्चस्व है। और फिल्म बाजारों को जैसे इस भारतीय वर्चस्व के परवशपुष्ट मन और उसके संस्कार का पूरा अभ्यसन और आनंद है। फलतः जन्मी श्रेष्ठ फिल्मों में वर्षाक के आकार पर वही काल्पनिकता रही है, वही संकीर्णमिथ्या, वही आधुनिकवादिता और वही सुखासकी।

सौभाग्य या दुर्भाग्य से इतिहास की देन के फलस्वरूप हमारे वर्चस्व नहीं हैं, जिन्हें 'विश्वर हाउस' से संबन्धता में जाना है।

स्वभावतः ये वर्षाक न वर्षाकवादी नाटक चाहते हैं, न अभी प्रयोगात्मक रंगमंच। ये सब नाटक चाहते हैं। कौन नाटक? ऐसा जो एक ओर इनके विषय, इनके वर्चस्व से सम्बन्धित हो; दूसरी ओर जो इनकी भाषाशुद्धि, इनके वर्चस्व को उसके भीतर से बाणी दे सके; जहाँ के मानसम्बन्ध, जहाँ के राग-रंग में जो उन्हें मंत्र सके और उन्हें रंगमंच में बैठने के लिए जो आकर्षित कर सके। क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर आज नाटककार से पहले रंगमंच में वर्षाक की समस्या है। नाटककार तो आज बहुत हैं, अभिनेताओं की भी बाध है, पर दुर्भाग्य यह है कि टिकट खरीदकर नाटक देखने वाले (बसलो वर्चस्व) ही नहीं हैं।

तो रंगमंच में अभी असली वर्चस्व ही नहीं है। ऐसा वर्चस्व, जिसके जीवन का शौर्य-बोध अथवा मनोरंजन-मुक्ति का रंगमंच एक अविनाशक बनना हो।

दूसरी ओर हमारे प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक और अभिनेता-वर्ग की स्थिति है, जो वर्तमान समय में रंगमंच-कार्य में सचेत हैं, पर जिनकी अपनी सीमाएँ और सम्भावनाएँ हैं, यानि सम्पत्ता है।

ठीक इन दोनों आवाजों से परे नाटककार खड़ा है। अपने अध्ययन-कला में पश्चिम के प्रायः सभी देशों—इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्पेन और आयरलैंड आदि की एक से एक उत्कृष्ट नाट्यकृतियों को पढ़ता हुआ, उनके 'स्नातनस' से लेकर साहित्यिक प्रयोगात्मक नाट्यकृतियों तक। इसका परिणाम यह है कि भारतीय नाटककार की बौद्धिक शक्ति अपने देश के विछड़े रंग-मंच से स्वभावतः बहुत ज़्यादा बढ़ गयी है। रंगमंच और नाटककार के बीच इस दृष्टि से एक अमानक दूरी जा गयी। वस्तुतः यह दूरी हिन्दी रंगमंच में व्यक्त-वाक्य के प्रभाव से और बंगला रंगमंच में टैगोर के समय से जिनकी कुछ

हुई है। इस तरह अपने पिछले रंगमंच से स्वभावतः असम्युक्त होकर भारतीय नाटककार उसे पीछे छोड़कर अकेले अपने उन्नत (?) मानसिक जगत् और चेतना की लिये हुए जाने बसता रहा। उसने इस तरह यथार्थ रंगमंच के स्वात पर अपने मानसिक कवीन्द्रिय रंगमंच का निर्माण किया और अपने 'ड्राईवकम्' में संतुष्ट बैठकर उसने अपने 'ड्राईवकम्' के ही 'रंग' का नाटक सिखा। वही श्रेय, वही छुटा-सा नाट्यारण-बाहर के प्रबल प्रीत्यक्षेत्र से हटा हुआ, कदाहीन नाटक, कनिन्यारिक्तता युक्ति से शुभ्य नाट्यकृति। और अपने मह की पूर्ति के लिए उसने अपनी इन्हीं नाट्यारणनाओं को 'साहित्यिक नाटक' की संज्ञा दी। ये साहित्यिक नाटक इस तरह साहजिक में बनकर, नाट्यरूप में पालपी मारे अपने पिछले रंगमंच को अंगुठा दिखाते रहे और अपेक्षित रंगमंच जमीन पर खड़ा हुआ उन नाटकों को दूर से ही प्रणाल्य करता रहा। नाटककार इस रंगमंच के पास जाने में, उससे हाथ निकालने में अपनी देहदृष्टी सम्भ्रवा रहा। इसका फल यह हुआ कि भारतीय रंगमंच बिना अपने गेटा और झिल्ली के अपनी जगह पर ही खड़ा रह गया और नाटककार की एकल कृतिया यथार्थ रंगमंच से शुभ्य प्राणहीन बनकर रह गयीं। उनमें तथाकथित साहित्यिकता थी, पर उनमें रंगमंच न था। उनमें सुन्दर दर्शन रहा होता, पर उनमें जीवन न था। उनमें विषय था, पर कथा न थी। उनमें कथोपकथन थे, उनके भीतर रंगगति न थी, उनमें घटनाएँ थीं, पर वे मंच-कार्यविहीन थीं। उनमें हस्य-योजना थी, पर रंग-योजना नहीं। उनमें पात्र-योजना थी, पर प्रतिक्रियाहीन। उनमें यदि दृष्टि थी तो पाठकों के प्रति, रंग-दर्शन-बोध का कहीं स्थान भी न था।

पश्चिम से सर्वथा अज्ञान, सर्वथा विभिन्न यह है भारतवर्ष का आधुनिक रंगमंच, जिसका वर्षाकाल रंगमंचाला से विमुक्त 'विषय-हास्य' में बीटा है। प्रस्तुतकर्ता और अभिनेता एकही हुई रंगमंचाला में आधु दे रहा है, साथ ही किसी अनजाने नाटक का पूर्वाभ्यास कर रहा है तथा हाथ में निमन्वयन परे वर्तकों को रंगमंचाला में बटोरने के लिए मूह के बस बेचारा हीन रहा है। और नाटककार अपने बंगले में बैठा हुआ अपने छिर पर नाटककार होने का बड़ा-सा मुकुट रखे हुए है—ऐसा मुकुट जिसमें वर्ष से बगवा बोल है, लीदर्य से ज्यादा अवलोकन है। वही नाटककार-वर्ष बनने दिन पश्चिम के रंगमंच और नाट्य-साहित्य की झुरि-झुरि प्रसंसा करता है और उसके प्रति अपनी कवीन धवा व्यक्त करता है। इन्हीं और रंग-मंच-अज्ञेता अपनी नाट्यस्थिति बिना छोड़े हुए ही रंगमंच-वाच्योक्त पर श्रेय लिख रहा है। और नाटक का आध्यात्मिक अपने रंगमंच की जेबना किए हुए नाटक के तत्वों पर आध्यात्म दे रहा है,

और रंगमंच-वाच्य के अर्थ बताता हुआ के आचार्य-पठन पर

स्वयं-वचन-वाच्य भारतीय सभी क्षेत्रों वही दूरी! वही धन बहुल माने।

पर स्वयं-वचन नवोन्मेष धामा तो वे अज्ञान रहकर उन्निष्ठता नाटककार

भारतवर्ष में काल्पोकम-नाटककार कराना—पुनर्लगतन सारी है, वहाँ पहले जट्ट निष्ठा लिए मज्जम-वचन में नाट्य ली रंगमंचाला सब दृष्ट बैसे रहनेवालों के लिए है पर कल्पने वालों चकती है।

विज्ञा और अज्ञान छिर तो दुर्भाग्य पश्चिम का धा उपकल्पितों हमारे सा जिएमें पश्चिम का न पुनरे वक्तक तक घटप वाच, 'देसमेत जी' के में इस काल का नाटक

और रंगमंच-आन्दोलन पर पश्चिमाश के धारण बहुत रहा है तथा मान कबोपकरण के अर्थ बताया हुआ, रंगमंच-कार्य को द्विकारण की तरह से देखता हुआ नाटक के उत्पादन-प्रदान पर औरतार मान्य दे रहा है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी, संथाली, गुजराती, मराठी और पश्चिम-भारतीय सभी क्षेत्रीय रंगमंच में कर्नामेय वही स्थिति सर्वत्र थी। यही अलगत्व। यही दुरी। यही अक्षयजन। यही अनास्था! रंगमंच बहुत पीछे—नाटककार बहुत आगे!

पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब रंगमंच में भावना-स्तर से एक अद्भुतपूर्व मनोमोहक आया तो इसमें नाटककार को फिर अनुभूत हुआ कि अपने रंगमंच से अलग रहकर उसकी कोई स्थिति नहीं। अपने युग-काल के रंगमंच से विभिन्न नाटककार का कोई अर्थ नहीं।

व्यक्तपूर्व में सांस्कृतिक रंगमंच के अन्तर्गत वर्तमान काल का यह रंग-आन्दोलन—नाटककार का रंगमंच में आना, उससे अपने-आपको जंगीकृत कराना—पुनर्जन्म का यह पक्ष परच निरन्तर ही इसके महान् बलिदान का साक्षी है, यहाँ पक्षी बार सुसंगठित और नियोजित हैं, रंगमंच के प्रति अद्भुत लोका लिए हुए नाटककार अपने रंगमंच के साथ एकाकार हुआ। इस मज्जम-बरण में नाट्य लेखन की विद्या उद्युत ही मूलती बरणी। क्योंकि जब तो रंगमंची सब एकसाथ बस पड़े। विद्या अस्पष्ट रहती है। अलग-अलग रूप धरते रहनेवालों के लिए। सामने का चिरा छिपित उन्हें बुनिया की सीमा सगरी है पर करने वालों के सामने विद्या, चिरे छिपित में अपने-आप प्रचरती चरती है।

विद्या और अमल विद्या!

छिद्र को दुर्भाव के इतिहास को हीनात्म के चरण मगने लगते हैं।

पश्चिम का सारा सांस्कृतिक रंग-मंच-आन्दोलन, उसकी सीमार्प और उपजन्मियाँ हमारे सामने हैं। बर्चार्पवादी रंगमंच, उसका प्रकृतियादी विकास, किन्तु पश्चिम का नाट्य उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध से लेकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक बटकता रहा, और उसका सारा रंगमंच-कार्य बर्चार्प, प्रकृति-वाद, 'दिससेड ज्ये' के नाम पर बीचमहीन हो गया। पश्चिम के प्रायः सभी देशों में इस कार्य का नाटककार बर्च इज्जत, वैश्व और बर्चार्पों की नाट्यकसा से

इसकी बुरी तरह से प्रभावित हुआ कि उसके आधुनिक रंगमंच का इतना सच्चा काव्य श्रेष्ठ रंगमंचीय माध्य धारा से भ्रम हो गया। प्रायः सारे नाटक रंग, कार्य, कथा, कल्पना, काव्य—इन महत्त्वपूर्ण तत्वों से दूर होकर केवल 'शुद्ध', 'विचार' और 'धीमिद गति' का साहित्य होकर रह गये। विनये न रंगमंच का उतना रस ही था, न उतनी गति ही थी। फलतः इस सच्चे काव्य तक पश्चिम का सारा दर्शक-वर्ग अपने मनोरंजन के सिद्ध रंगमंचाया को छोड़कर 'विचार हाउस' में जा बैठा। ठीक यही तो काव्य 'भारतवर्ष' के दर्शकों की स्थिति है।

पश्चिम में आधुनिक रंगमंच की उस दशा से बचने के लिए यहाँ वही संवर्धन-सरी आदाक मुस्य हुई :

"दर्शकों के प्रति सम्मान। यदि नाटककार दर्शकों को किसी कक्ष तक पहुँचाना चाहता है तो उसे चाहिए कि पहले वह दर्शकों को संबोधित करे। उसे दर्शकों को धिक्कृत रूप से मानना चाहिए, उसकी बुद्धि का सम्मान करना चाहिए, उनकी सहभागिता का स्वागत करना चाहिए।"<sup>1</sup>

फिर रंगमंच को इस संकल्प से उबारने, उसे पुनर्जीवन देने के लिए नयी विद्या और नयी गति देने के लिए पश्चिम में फिर वही पुराना दर्शन सुहराया गया :

"अलगा की धीरे की प्रभावित करने वाले लोकिय नाटकों की परंपरा से ही महान् रंगमंच का विकास होता है। यूनानी नाटककारों के भाष्य, मोलियर और शेक्सपियर के साथ यही बात रही है। आरबका के नाटक कभी-कभी

1. "One of the popular traditions of our time has, with perfectly good intentions, transformed theme into thesis, character into mouth-piece, play-wright into high priest."

—P. 87, 'How Not to Write A Play' by Walter Kerr.

2. "Respect for the audience! In order to take the audience somewhere the play-wright must first embrace it. He must know it intimately, must honour its intelligence, must welcome its partnership."

बुद्धिजीवियों को स  
कभी प्रभावित क

अन्तः, परि  
और बिचसे परि  
के स्वान पर जीव  
परिपूरित रंगमंच  
टी० एल० इति  
'द सेकी द्रव गोट  
पेनी धमिरा' (१९  
वां काव्युः 'द इ  
(१९३४), वां अ  
(१९३३), 'पमी'  
सिद्ध' (१९३३);

आप पश्चिम  
यह पश्चिम की म  
स्थितियों की सहज  
के दर्शकों की मान  
के फलस्वरूप भी  
विद्वद् यह स्वापक  
इतिहास के एक  
अनुभव से हम सीख

बैसा हमारा र  
बाबी हो सकते हैं,  
हैं। हयें वहाँ से अप  
छिपी है, वहाँ हुना

1. "Great thea  
plays which  
with the Gr  
peare. Tod  
ctuals, but i

मुक्तिवीरियों की तो प्रभावित करते हैं, किन्तु आम जनता को कवाचित् ही कभी प्रभावित कर पाते हैं।”

फलतः, पश्चिम में १८३० ई० के बाद जिस नये रंगमंच का जन्म हुआ और जिससे पश्चिम का रंगमंच फिर से आवाज हुआ, वह 'मथार्थवादी रंगमंच' के स्थान पर जीवन, इतिहास, भाषा (Myth); दर्शन, कल्पना और धर्म से परिपूरित रंगमंच का, जिसके प्रतिनिधि नाटककार अवतरित हुए इंग्लैण्ड में १८० एड० इतिवटः 'ग्रेटर इन वेमिडज' (१८३५); फ्रिस्टाफर कार्डे : 'द ग्रेडी इव गॉट फॉर वर्निंग' (१८४२)। मध्ययूरोप में बर्तोल बेकट : 'द वी पेनी ज़पिरा' (१८३०), 'द काकेशियन पांक सर्जिस' (१८४४)। फ्रांस में कां काल्जु : 'द इन-फर्नस मनीन' (१८३४), जॉ पॉल सार्न : 'द फ्लाइज' (१८३४), जॉ अगुर्दे : 'एन्टीबनी', 'वलाक'। स्पेन में लोर्का : 'असल वेरिज' (१८३३), 'मर्मा' (१८३४)। अमरीका में सरोमान : 'माइ हार्ट इन द हाई-लैंड्स' (१८३८); डेनवी विलियम्स : 'द ग्लास मैनेजरी' (१८४५)।

साथ पश्चिम में यह विद्या है उसके आधुनिक रंगमंच की। पर हमारी विद्या यह पश्चिम की नहीं हो सकती। उनका यह आबोलन उनके वहाँ के नाट्य-स्थितियों की सहज देन है। उनकी यह रंग-उपलब्धि उन्हीं के इतिहास, उन्हीं के दर्शकों की भाँव और मुखरतः उन्हीं के परंपरागत, रुढ़ित रंगमंच की प्रेरणा के फलस्वरूप की। इस विद्या में पश्चिम का मथार्थवाद, फिर मथार्थवाद के विरुद्ध यह व्यापक प्रतिक्रिया और यह नया नाट्यसाहित्य—यह सब हमारे लिए इतिहास के एक अवलम्ब उपाहरूप के रूप में सामने है। इतिहास के इस अनुभव से हम सीख अवश्य नि सकते हैं।

सैदा हमारा रंग-इतिहास है, मैती हमारी दिव्यता है, न पूर्वतः हम मथार्थवादी हो सकते हैं, न हम पश्चिम जैसे प्रयोगवादी रंगमंच में सत्ता दूज सकते हैं। हमें वहाँ से अपनी दृष्टि लेनी है जहाँ हमारे अपने रंगमंच की एकांत शक्ति छिपी है, जहाँ हमारी अपनी अतिरिक्त शक्ति है। और अपनी इस दृष्टि में

1. "Great theatre must arise from a tradition of popular plays which appeal to the crowd. This was the case with the Greek dramatists with Moliere, with Shakespeare. Today's plays appeal sometimes to the intellectuals, but hardly ever to the general public."

पश्चिम के आधुनिक रंगमंच के इतिहास का वह कर्मात्मक अनुभव हमें कभी नहीं भूलना होगा कि जब पश्चिम में र्थार्थवादी रंगमंच फलीफूल नहीं हुआ, फिर तो भारतवर्ष भारतवर्ष है, जहाँ की प्राचीन नाट्यपरम्परा का आत्मगत 'रस' में वर्धनित है।

हर देश, काल और युग का रंगमंच तथा उसका नाट्यसौजन्य उसकी अपनी परिस्थितियों और उसकी अपनी सामर्थ्य (रिसोर्सेज) के अनुसार ही विकसित होगा, और हुना है। हम विकास का सीधा सम्बन्ध उस देश, युग और काल की अपनी अतिरिक्त नहीं देखते हैं। पश्चिम की उपलब्धियाँ हमारे सामने हैं, हम उनसे महत्व रक्षित्व के स्तर से मन्थन से सकते हैं, पर हम उसकी सामूहिक उपलब्धियों से अपनी उपलब्धि नहीं पा सकते।

हमारे यहाँ तो अभी सारे रंगमंच बिखरे हैं। इसलिए अभी तो हमारी सारी अति रंगमंच-अज्ञान पर लगी है। इससे पहले हमें अपने परिच्छेद में आधुनिक बनाना है। इसे रंगमंच के सभी स्तरों से पहले सही ढंग में विपुलित करना है। और निम्नलिखित ही इस सन कार्य-व्यापार का मूल केन्द्र नाट्यकृति ही है। और वह भी सत्य है कि नाट्यकृति आज रंगमंच के इतने सामूहिक क्रिया-कलाप उसके इतने आधुनिक कर्मात्मक व्यापार के लिए तब तक समुचित क्षेत्र नहीं दे सकती जब तक कि उसमें उसकी आंतरिक रंग-अन्विति न हो। और इस आंतरिक रंग-अन्विति का निर्माण अपने युग के रंगमंच की सभी उपलब्धियों के सामंजस्य से नहीं होता है, यह भी बहुत बड़ा सत्य है।

कितना गहन अव्योपाहित सम्बन्ध है !

तभी भारतवर्ष के वर्तमान नाटककार का दायित्व एक ही साथ एक ही बहुलता और व्यापकता से कितने घरातनों पर है—वह उसके लिए बहुत बड़ी चुनौती है, और साथ ही यह उसके लिए बहुत बड़ा धर्म भी है। एक की अव्यक्तता, एक की सति दूसरे को मोगनी होगी, यह स्पष्ट है।

शायद ही किसी युग में किसी देश के नाटककार के सामने इतना बड़ा दायित्व, इतना गहन धर्म आया है।

हमारे यहाँ  
के मतलब है,  
और उनकी ग  
होता है। हाँ,  
में नहीं मस्तु  
होता है, और  
कार किन्हीं इ  
ज्यादा नाटक  
और इतिवृत्त  
यही इति वा  
की लिख दें।

जबकि उ  
धर्म किन्हीं  
व्यर्थ विद्या  
बिचने स्वर त  
नाटक नहीं ह  
इसी विविधा  
ही', 'बदल  
अंश न बन्ध  
की ही तस्  
जसके प्रत्य  
अनुवाप का



## आधुनिक रंगमंच में नाटक का जीवन संदर्भ

हमारे मान के समय-काल के विविध संदर्भों में, नाटक सिद्धांत के प्रबल के मतलब हैं, मान के वस्तुपरक तथ्यों तथा साक्षात् जीवन संदर्भों से जुड़ना और उनकी गहराइयों से संबंधित होना। मान सोचेंगे, ऐसा साहित्य में भी तो होता है। हाँ, नाटक और उपन्यास कहानी में इतना ही जो अंतर है कि नाटक में वही वस्तुपरक एवं आत्मपरक सत्य मंच पर प्रस्तुत होने के उद्देश्य से निर्मित होता है, और क्या साहित्य में वही मान पढ़ने के सक्षम है। पर जो नाटककार सिर्फ इतने ही अंतर को मानकर नाटक लिखते हैं (भारत में ऐसे बहुत स्यावा नाटककार हैं) वे स्वभावतः वस्तुओं, तथ्यों और विवरणों को एक ओर इतिवृत्तात्मक स्वरूप में रखते हैं, दूसरी ओर वे नाटक के व्यर्थ की यही इति मान बैठते हैं कि मंच के निर्देशों और उसकी अपनी भाषा में जीवन को लिख दें।

कमलि उपन्यास और नाटक का मूल अंतर यह है कि उपन्यास में वही व्यर्थ लिखा जाता है, उसका चित्र उपस्थित किया जाता है, वही नाटक में व्यर्थ किया और भोला जाता है, वही लिखा और कथा कुछ नहीं जाता। बिलने स्तर तक नाटक में व्यर्थ लिखा कहा जाता है, उतने ही स्तर तक वह नाटक नहीं हो पाता, या नहीं हो सकता। विश्व के कुछ उपन्यास, नाटक की इतनी प्रतिभा की धपने में संकोचर महान सिद्ध हुए हैं—जैसे 'ओल्ड मैन एंड द सी', 'हर्से कमेन्स', 'कार एंड पीस'....। इनमें जो कलात्मक अक्षेपता है, वह अक्षेप न वर्णित है, न कवित, वरन कवित कार्य के रूप में है। वही नाटककार की ही तरह उपन्यासकार पूर्णतः अनुपस्थित है। उपस्थित है केवल जीवन और उसके प्रत्यक्ष-दृश्य संदर्भ। 'ओल्ड मैन एंड द सी' में दुःख, संघर्ष, पराजय और अनुशास का व्यर्थ कहीं भी उपन्यास में लिखा नहीं लिखता। शून्य केरस इसके

नाटक—सैंटियागो (सेन्ट फ्रैन्स का स्पेनिश नाम) नामक एक मनुष्यारे को देखते हैं। यह बुद्ध, सोमा-साया मनुष्यारा स्वयं में एक ऐसा निष्क है, जिसमें यद्यपि निष्क के कोई भी चिह्न, या तत्व नहीं है, जो साक्षात् जीवन की तरह है। 'मासिन' (मछली) के मारने की प्रक्रिया में वह जन्तवः अपने आपको ही मारता है। और इस तरह वह मछली सब मनुष्यारे के पार्थिव तथा ऐश्विक अस्तित्व का ही प्रसार मत्त्व है—कोई मान मछली नहीं। जैसे ही वह मछली को हत्या करता है, 'वह मछली जितना हो जाती है—जसकी जसमें मृत्यु के साथ ही...'।

लोकों के प्रसिद्ध नाटक 'बार्मा' में जीवन के अन्तर्गत यथार्थ का यही प्रयोग काव्यात्मक वराणस से रचित है। बार्मा अपने पति को जल में बसा लड़ोकर हत्या कर देता है—और नाटक समाप्त हो जाता है। पर बरजसस नाटक यहीं से शुरू होता है—एक ऐसी स्त्री—या इन्सान का अस्तहीन नाटक, जिसने अपने ही हृदय से अपनी स्वयंसात्मक कति की हत्या कर ली, और वह सिर्फ जीवित रहने की (जीने का नहीं) अभिलाषा हो। यही विशिष्ट अर्थ नाटक की साहित्य तथा कलाओं में सर्वथा एक नया स्थान देता है।

रचनात्मक साहित्य के श्लोक मानवों तथा स्त्रियों में अपना निजो अर्थ होता है, जो जीवन-प्रसंगों के भीतर से उपजता है - यथा कविता, यथा कथा साहित्य। अर्थ यही भावों में अन्तर्भूत रहता है। पर इसके आगे नाटक में यही अर्थ मंच पर अभिलीत किया जाता है—या प्रस्तुत होता है। अर्थ की रचना और फिर पुनर्रचना—यही से नाटक—जीवन संदर्भों के स्तर से अपना महिमापूर्ण संविकसित स्वरूप धारण करता है।

अर्थ के इसी विशेष प्रयोग तथा रचनाभूमि से, जीवन प्रसंग को लेकर जो महत्वपूर्ण विन्दु सामने आते हैं। और यही से, प्रयोग स्तर से दो प्रकार के नाटक तथा नाटककार सामने आते हैं। एक ओर ऐसा नाटककार जो एक विशेष विचार-अनुभूति को नाटक का करीर देता है। उस नाटक का करीर जबवा उसके रंगमंच का बाह्य स्वरूप चाहे, जिसका विषय, रंगमंचीय कथों न हो, उसके रंगमंच का वास्तविक स्वरूप, विचार-अनुभूति में बहित तथा सुबद्ध है। दूसरी ओर एक ऐसा नाटक है; नाटककार है, जिसका अपना कोई कास विचार-अनुभूति नहीं है, पर वह बाहरी नाटककारता तथा रंगमंच कला का सफल, कुशल मिल्पी है। अर्थात् एक ओर रंगमंच में कवि है, दूसरी ओर रंगमंच में एक मान चिल्पी—बोनों में अद्विक महत्वपूर्ण यही कवि है। क्योंकि

वह अर्थ देता है—  
रचना मंच पर से

इसी कवि का  
होता है। अर्थात्  
मुपजात होती है  
विन्सपीरियम रंग  
किया पाठों वा,  
तथा इन्सा प्रस्तुत  
परंपरा में, नाटक  
पर जीवित होना  
बचाहरण है; और  
प्रत्यक्ष जीवन संदर्भ  
है। यथार्थ में जो  
पहाड़ की तरह है  
समावेश्य से आगे  
पर नाटक के पात्र  
पात्र पर उसे टीका  
नाटक भावना के  
सम्बोधित से। वे  
के, और स्वभावः

पर मान वि  
सार्थक नहीं बनता  
में, जहाँ कला की  
करती है, होता है  
जसकी आँवों में  
यथार्थ का प्रतिक  
एक दर्शक समाज  
नाटक के तारे के  
सकता है, न पूर्ण

नाटककारता  
होती, उसी स्तर

वह अर्ध वेता है—जीवन संघर्षों के भीतर से ऐसा नाटकीय अर्ध, जिसकी पूर्ण-रचना संघ पर संभव होती है।

इसी कथि द्वारा ही अजाने में रंभमंभ के भीतर सर्वथा एक तथा प्रयोग होता है। अजिनय जेही परंपरावादी कला में उसके तबे नाटक से एक नयी सुकवात होती है। यकार्थ के तारे में भी तबे चरण सुगत हैं। संस्कृति, ग्रीक तथा रोमनरीयन रंभमंभ में नाटक के पात्रों का (जीवन संघर्षों का) अजिनय किया जाता था, क्योंकि इस चरण में उवात-अनुवात, अर्ध-अधर्म का क्लक तथा द्रमा प्रस्तुत होता था। भाषुनिक युग में—इसकी पर्यार्यवादी नाट्य परंपरा में, नाटक के पात्र के अजिनय के स्थान पर, स्वयं जेही पात्र को संघ पर जीवित होना पड़ता था—स्टेसादेशकी, की रंभमंभ कला इसका उवसम्भ उवाहरण है; और इव्यन की नाट्यकला इसका प्रत्यक्ष प्रमाण। क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष जीवन संघर्षों को परम यकार्यवादी अंश से रंभमंभ का विचय बनाया गया है। यकार्थ में जो प्ररवण है, उसके अस्तपाल में परोक्ष में कितना यम। कलमन पहलू को तरह है, उसे सम्भोचित करना इस युग का कलात्मक सपय था। यकार्यवाक से अगे जाया अयकार्यवादी रंभमंभ—ड्रेकट का विवेटर—जहाँ मंच पर नाटक के पात्र की सजीव भूमिका की निभाती पड़ती थी और साथ ही उव पात्र पर उसे टीका-टिप्पणी की करनी पड़ती थी। ऐसा इवसिये कि ड्रेकट के नाटक सावना के स्थान पर सोचने-विचार करने की वृत्ति को अजाने के लिये सम्भोचित थे। ये जीवन प्रसंगों तथा जीवन यकार्थ के नाटक नहीं, महानाटक थे, और स्वभावतः उनको संरचना महाकाव्यात्मक शैली में की गयी थी।

पर मात्र विचार-अनुभूति ही नाटक के करीर में बसकर उसे सहृदयपूर्ण सार्थक नहीं बनाते। ऐसा तो चित्रकला, मूर्तिकला—अर्थात् उन सारी कलाओं में, जहाँ कला जीवन की अनुभूति और उसका प्रतिनिधानात्मक स्वरूप, प्रकृष करती है, होता है। संर कलाओं में शकृति और जीवन, कलाकार के सामने, उसकी भाँजों में होता है। किन्तु नाटक ही एक ऐसी कला है, जो जीवन तथा यकार्थ का प्रतिनिधानात्मक स्वरूप होने के बावजूद, जिसके अंतर्गत में सदैव एक दर्शक समाज विद्यमान रहता है। कोई भी विचार-अनुभूति केवै भी नाटक के करीर के बावजूद बिना दर्शक की संकल्पना के न सार्थक नाटक बन सकता है, न पूर्ण रंभमंभ।

नाट्यसंघन में किल स्तर उवा, अनुवाक से दर्शक को यह उवसिति नहीं होती, उवै स्तर तथा अनुवाक से यह नाटक रंग निर्देशन तथा परिदेख

और दृश्य निर्माण के अभावसक विस्तार तथा अप्रासंगिक विवरणों से भरा रहता है। संस्कृत तथा शैक्षणीय रंगमंच में सारा रंगमंच निर्देश, दृश्य संस्था और परिवेशबोध उसके नाटक में अंतर्भूत है—जिसे हुआ है। क्योंकि वह सारा का सारा, ज्ञानि से ज्ञान तक वर्णक समाज को अपनी भावों में बसा कर दिखा गया है—या संबोधित हुआ है।

आधुनिक रंगमंच में, जैसे जैसे मंचसज्जा और दृश्य कला और उतपत्ता अधुना रंगमंच (अवधि, रंग, स्पर्श और ज्ञान प्रभाव) विकसित होता गया है; जैसे जैसे, नाटक से उसका बातावरण, परिवेश और नाटक की संकल्पना में अन्तर्निष्ठ और इसी अनुपात से नाटक की महिमा स्वभावतः घटती गयी है। वर्णक दृष्टि की अनुपस्थिति से आधुनिक नाटक बौद्धिक हुआ है और आज ही अपने व्यावहारिक रंगमंच में देहतर लक्ष और व्यंग्याभ्य हुआ है।

जो कह सकते हैं कि यह हमारे मर्यादों जीवन के ही कारण है। ऐसा आध का जीवन हो है कि जसमें बुद्धिमत्त्व प्रधान है, और वह अपने परिवेश से दूरा होकर भी उससे दूर और अलग हुआ हुआ है। पर ऐसा कोई निरा धनकार ही कह सकता है, रचनाकार नहीं। रचना के स्तर से नाटक को सोभते ही मर्याद का वह स्वरूप सामने आता है, जिसे देखकर अनुभव करने के लिए वर्णक रंगमंच में जाता है। यही विधि अनुभव सब हर युव के नाटक को एक दूसरे से विनिष्ट बनाता है।

और नाटक अपने विशेष युगकाल की अर्थहीनता को लेलता हुआ उसके मूलमूल अर्थ को प्राप्त करता है। यही अनुभव नाटक में छिपा होता है और इसी की अनुपुति रंगमंच की वास्तविक उपस्थिति होती है।

हमारे वर्तमान समय की अर्थहीनता है—सामान्य जीवन की दुकरसता की। एक ही तरह के विविध वर्गों में बंटे, सदाही निर्भगी जीने वाले परिवार, साधारण सोच, बही रोचधर्मी की बटनाएँ, कार्य व्यापार। सचता है—यह जीवन, दैनिक समाचारपत्र के पृष्ठों जैसा ही समस्त और निर्धीर है। संनबद् यही रोच बनकर काट रहा है। इस जीवन में कुछ भी देता नहीं घट रहा है, जो वास्तव में अर्थमान हो—और जो दरबसक नाटक का आचाम पाने वाला हो। जैसे किसी दिन हन कुछ समाचारपत्र में कीर्द विलक्षण घटना पढ़कर बोधी देर तक मन बहसा लेते हैं, ठीक इसी तरह एधर आधुनिकता के नाम पर अनेक सञ्चारी करिणों को देखकर बोधी

देर तक  
नहीं। जैसे  
पत्रकारिता  
ही अपना  
है। यह सि  
रंगमंच यु  
विरोधी सि  
केन्द्र में वि  
बही है। 'म  
अर्थहीनता  
अनुभव की  
अनेकों नेति  
और चिन्ता  
हमारा सम  
धर्मों मर्या  
मर्यादों  
पट्टेपता है,  
अर्थ और  
अनुभव प्र  
आज  
अन्वेषणों के  
नहीं, बसि  
रचनाकार,  
पर एक म  
रचनात्मक  
प्रमाणों का  
कि कतिप  
सहस्रवर्ष  
धीरने तथा  
पुरसे उभरे  
इसके  
सीफोमसीव  
२

दर तक हम नायक की मर्त्य को बढ़ा लेते हैं पर इसके बागे और कुछ नहीं। जैसे उस दिन के समाचारपत्र से जाने कुछ नहीं। क्योंकि ऐसे पत्रकारितापूर्व नाटक स्वभावतः हमारे समय की अर्थहीनता पकड़सता को ही अपना संघ बनाते हैं—बल्कि यह मात्र एक स्थिति है, बाहरी परिवेश है। यह स्थिति हर एक युगकाल के अनुस्यू स्वयं पैदा होती है—जैसे संस्कृत रचनायुग में स्वच्छन्द उद्बल की, इन्दु के काल में नैतिक मूल्यों तथा भिदोकी सिद्धान्तों के संघर्ष की—पर इन स्थितियों के भीतर—इसके मूल केन्द्र में विश्रवाण यह मनुष्य क्या है, जीवन की यह मर्मभूमि क्या है—यही है 'अधिज्ञान काकुलन' और 'बोस्ट'। जो अपने समय की स्थितियों, अर्थहीनता को देखकर एक कुछ विचार को हममें अनुभव करते हैं—ऐसे अनुभव और विचार, जिसे लार्ड समाचार-पत्र, अर्थव्यवस्था उद्बल, अनेकों नैतिक मूल्य और जीवन सिद्धान्त हमें नहीं दे सकते। ऐसे अनुभव और विचार जो मर्त्यों से कभी व्यक्त नहीं हो सकते। ठीक इसके विपरीत हमारा समासायनिक भारतीय नाट्यलेखन प्रायः यथातथा, समाचारपत्र-पत्रों समाय के ही स्तर से व्यक्त होने को जैसे अभिमत है।

यथायं स्थितियाँ मात्र साधन हैं, जिनके द्वारा रचनाकार उस मर्म पर पहुँचता है, वहाँ जीवन संघर्षों का केन्द्र बिन्दु है—यहाँ से एक ही साम अर्थ और अनुभव दोनों की शुभभाव होती है। बल्कि नाटक में अर्थ और अनुभव जहाँ एकाकार होते हैं, वह यही मर्मभूमि है।

आज समाय विज्ञान, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अनेक मधे-मधे अन्वेषणों के कारण, हमारी दुनियाँ और इसमें रहने वाले लोग आत्म सजग नहीं, बल्कि बेहव चोकले और जड़क से गये हैं। स्वभावतः आज का रचनाकार, और उसमें भी सबसे अधिक नाटककार आत्मसजग हुआ है। इस पर एक और विविध भागों का यथाय पक रहा है, दूसरी ओर अर्थों के रचनात्मक स्तर पर न कुछ पाने का—और इससे भी ऊपर पूरी दुनियाँ के प्रभावों का इस पर अघर पक रहा है। इसके भीतर यह सोचने की मर्मभूमि हुआ कि कानिदान, मूडक, सेक्सपियर और सोफोक्लीज, इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण नाटककार थे—ठीक जैसे आज का मनुष्य (धार्मिक समाय) यह सोचने तथा अनुभव करने को विचर रहा है कि उसके पिता-पितामह और पुरखे उससे कहीं अधिक अधिज्ञान व्यक्तित्व के थे।

इसके कारण अज स्पष्ट सामने हैं। कानिदान-मूडक, सेक्सपियर और सोफोक्लीज अपने देवतास से कुछे और बंधे रहकर भी स्थिय-अनुभूति से

असीम तथा कासाहीत वे। यही सत्य एक ओर उसके नाटकों को जीवन प्रसंग से जोड़ता है तथा दूसरी ओर इसी से उनके नाटक महिमा मंचित होते हैं।

और हमारे समय में जीवन प्रसंग से जुड़ने का मान आशय यह सिद्धा जाता है कि वास्तविक तर्कपूर्ण परिस्थितियों में तर्कपूर्ण, वास्तविक मनुष्य-समाज को नाटक में चित्रित करना और जीवना। पर इस प्रकृतवादी परिस्थिति की अनेक एकनन्द सीमायें सामने आ खड़ी हो गयी हैं—अनछे पिछले तीस बरों से पश्चिम का साक्ष्य नाट्यलेखन चूस रहा है, और इससे मुक्ति पाकर उस दुनियावादी इंसान को चित्रित करने में चलने प्रयोगवादी रंगमंचों को उतार रहा है।

इस प्रकृतवादी—या आक के संदर्भों में यथार्थवादी नाटक की पक्षी बनी सीमा यह है कि यह एक दृश्ये अनिश्चित, अतिशीघ्रित तर्कपूर्ण परिस्थिति तथा जीवन-प्रसंग से जुड़ा-बिरा होता है कि अपने से बाहर की सारी दुनिया से यह निस्संग, कटा हुआ सिद्ध होता है। इसके प्रसंग स्वभावतः सतही और ग्यावा भोकाने वाले होते हैं। ये अस्तित्व हमारे तर्क को ही जगाकर हमें रंगमंच से उठाकर हमें भागने को विवक करते हैं। वे हमें वह मानसिक स्थिति नहीं देते, जहाँ हम स्वतन्त्र, अबाध, निविधन, अनुभव कर सकें। यह आश हमें नहीं मिला पाता, जहाँ हम एक नये स्तर से, अपने को प्राप्त कर सकें और अपने को मनुष्य महसूस कर सकें।

इसी अनुभव, इसी अर्थवत्ता के लिये व्योमोज, जेवट, इस्मिट, नां अमुई आदि ने मनुष्य और जीवन को इतिहास, पुराण, अतीत लोकगाथा तथा दूर-वराज के वेण-कास में प्रतिष्ठित कर समसाधनिक जीवन-बोध को सम्प्रेषित करना चाहा है। समसाधनिक को श्रुतकाल में मिला कर अपने समय के यथार्थ को व्यक्त किया है—ऐसा यथार्थ, जो सारे संसार का है, सबका है, जहाँ विशेष साधारण ही जाता है और साधारण विशेष।

दूसरी ओर आर्थर मिसर, लोर्का, पियरेस्को, आइनेस्को और वैकेट जैसे नाटककार जब सम-सामयिक जीवन को अपने ही समय तथा परिस्थिति में रखकर चले देखते हैं, तो उसी अर्थवत्ता तथा अनुभव के लिये वे मनुष्य को उसके आविर्भाव प्रसंगों तथा प्रसंगों के परिदृश्य में पते हैं—मनुष्य की आविर्भावना—स्वार्थ, मास्य, मंडविशवास, मुख, धव—मनुष्य के सनातन संघर्ष मनुष्य और मनुष्य...। तभी इन नाटकों के स्तर वृहत्तर होते हैं और इनके संघर्ष मानवीय।

अनेक शुभार्थपूर्ण कथक और मराठी से जहाँ तक मनुष्य अनुभव होता है बाहरी रंगमंचीय प्रयत्न के कई मनोरंजक नहीं है—अब तक तो नहीं।

इसी नाटकों एक ही साध पाता; यह वस्तुविषय, जो पर उठका साधारण श्राद्ध हो सकता है। प्रसंग की 'आइनेस्को' सिद्ध करने के लिए नाम अपने वेग-प्रसाहस किया ज अनुकरण का दुनिया नाटकों में आसानी हमारी फिलमें, संगीत को बहू अनुकरणय गम्भीर कारणों के बाहर की हीरो त होने वाला। विषय संदर्भों से निस्सन्देह स्वभावतः एक कठिन नाटक के विशेष काफी हाउस का सत्य सिद्ध के संदर्भ सर्वथा एक दुसरे ही स

जनेक दुर्भाग्यपूर्ण कारणों से भारतवर्ष का—विशेषकर हिन्दी, बंगाल, कन्नड़ और मराठी का नया नाट्यलेखन जीवन प्रसंगों के हम गहरे प्रश्नों से अभी तक अक्षमूक है। पिछले दस-बारह बरसों के नाटकों को देखकर यह अनुभव हीठा है कि यह सारा नाट्यलेखन पश्चिम के नाटकों के मात्र बाह्यी रंगमंचीय प्रयोग के प्रभाव और बहाल में हुआ है। इस प्रभाव तथा बहाल के कई मनोरंजक पक्ष लामने हैं। मसलान, पूरे नाटक में कोई विषय ही नहीं है—सबर है तो कैवल वस्तु। पूरे नाटक में जनेक विषय हैं, पर वस्तु तक भी नहीं। विषय वस्तु के स्तर से यह पहला पक्ष है।

इन्हीं नाटकों में जिविस रंगलीसी और परस्पर विरोधी रंगमंच-प्रकार एक ही साथ पाना; इनका दूसरा विश्वस्वप पक्ष है। और तीसरा पक्ष है यह वस्तुविषय, जो इन नाटकों में सिवा का रहा है। वस्तुविषय बीडिक हो, पर उसका आघार हमारे जीवन का प्रसंग हो, तब भी किसी स्तर से यह आघा हो सकता है। किन्तु सारा का सारा बीडिक चमत्कार हो और जीवन प्रसंग भी 'आइनेस्को' के लोक का हो—और उसे भारतीय और समाजव्यक्त सिद्ध करने के लिए दैनिक समाचारपत्रों के नाम, पानों, तथा भटनास्यसों के नाम अपने वेस-प्राप्त से है जिसे बार्थ—और उसे अपना नाटक कहने का साहस किया जाय, यह भारतीयनाटक सगता है। रचना-सृजन तथा अनुकरण का कुनिदादी अन्तर यदि देखना हो तो आज इस तरह के भारतीय नाटकों में आसानो से देखा जा सकता है। ठीक उसी तरह जैसे भाष की सुपायी फिल्में, संगीत, तथा जीवन के जिविस कला रूप, स्वरचना, आत्मसृजन की जगह अनुकरणजर्मी हो रहे हैं। सृजन प्रक्रिया में दिहित जनेक मूल और बम्पौर कारणों के अतिरिक्त व्यावहारिक कारण यह है कि जब सिल्पविधि आरुह को होगी तो उसी की स्वाभाविक अनुकूलता में (मलिक उसमें फिट होने वाला) जिविस भी देसा हो दुँदना पड़ेगा यह जिविसवस्तु अपने जीवन संघर्षों से निस्सन्देह दूर और अलग होगी, और उसे वास्तवगत करना स्वभावतः एक कठिन समस्या होगी।

नाटक के जिविस संदर्भ से यह चिन्त्य है कि, कहीं यह सारा नाट्यलेखन काकी हास्य का संघाट ही न समाप्त हो जाय।

चित्त के संदर्भ में सारी कलाओं तथा साहित्य प्रकारों में नाटक की समस्या सर्वथा एक दूसरे ही रंग से सामने आती है। यहाँ यह चिन्त्य मान न रहे कर रंग-

चित्त के रूप में नाटक के कृतित्व में सर्वत्र विद्यमान रहता है; शब्द और अर्थ की तरह। दूसरे वहाँ चिन्त, परिवेश और प्रभाव के भी रूप में विद्यमान तथा कार्यरत होता है। और जीवन संघर्ष की परिष्कृतता परिवेश से असल कभी नहीं की जा सकती। दोनों का अस्तित्व यहाँ पारस्परिक ही नहीं अपरिहार्य है।

परिवेश-प्रभाव कहीं और का हो और जीवन संघर्ष कहीं और का— नाटक में इससे अधिक चिन्त बात और क्या हो सकती है!

अपने निजी जीवन संघर्षों की खोज ही हर युग-काल के नाटक को एक दूसरे से अलग-थलग और अलग-थलग उसे मौलिक बनाता है। इसी मौलिकता में रंगमंच की मौलिकता सहज ही फूट निकलती है। मौलिक प्रयोग में बाहर के वे सारे रंगरस यदि अनिवार्यतः आते हैं, तो वे बाहर के होते हुए भी अपने हो जाते हैं—जैसे नेकट के रंगमंच में पूरक के इतने सारे रंगरस और ताद्विषयगत उसके अपने निजी होकर जाते हैं। पर इस रचना में सुजन की ईमानदारी बुनियादी बात है, और इस बुनियादी बात का मतलब है अपने वास्तविक पर मर्चाय जीवन के स्तर से उठना और उनकी अनुप्राणित देना। इसके बिना नाटक बाहर से कितना आकर्षक, प्रयोगदर्शी होते हुए भी निजीय संकाल मात्र रहेगा। जीवन का मर्चाय अन्वेषण और इसकी परिस्थितियों को उनके अपने प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध करना ही मौलिक नाट्य सुजन है। यही नाटक का सच्चा अर्थ है—जिसका अनुभव दर्शक रंगमंचा में पाता है। यही अर्थ स्वभावतः तब विकृत हो जाता है जब हम इसे बाहरी परिस्थितियों से सम्बद्ध करते हैं। फिर तो अर्थ के विकृत होते ही पदार्थ का रचना का जीवन ही नष्ट हो जाता है।

□ □

हिन्दी में हुआ, दूसरे नाटक के मूल्य पारसी सिनेमा द्वारा प्रभावित रंगमंच के विकास के लिए कहाँ कहाँ क्षेत्र में। हिन्दुत्व और पुरी हिन्दी से अपना... —विशेषकर रचना और 'असहयोग' के प्रति अ... 'असहयोग' अपनाए : (क) (ख)



म रङ्गता है; तब और धर्म को  
के भी रूप में विद्यमान  
परिचयना परिवेष्ट से अलग  
तब यहाँ पारस्परिक ही नहीं

सकन संरभ कहीं और का—  
सकवी है;

युग-काल के नाटक को एक  
बनाया है। इसी मौलिकता में  
सती है। मौलिक प्रयोग में  
हैं, जो वे माहुर के होते हुए  
पूरब के दृष्टि से रंगतत्व  
आये हैं। पर इस रचना में  
स बुनियादी नाय का मतलब  
जुड़ना और उनकी अनुभूति  
कर्मक, प्रयोगधर्मी होते हुए  
बचार्थ अन्वेषण और उसकी  
करता ही मौलिक नाट्य  
का अनुभव वर्णक रंगभारता  
ही जाता है जब हम इसे  
तो धर्म के विकृत होते ही

□ □

## हिन्दी रंगमंच और नाटक

हिन्दी रंगमंच—जिसका पहला और अत्यन्त महत्वपूर्ण समय कार्तिकेय काल  
में हुआ, दूसरा विकास 'प्रताप' काल में और अंततः जिसका पर्यवसान श्रीम  
राजक के आस-पास हो गया, यह पूरी रंगभारता प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से  
पारसी थियेटर के प्रभाव और उसके प्रतिक्रिया का दस्तावेज है।

पूरा पारसी रंगमंच और उसका नाट्यलेखन मूलतः पश्चिम के व्याप-  
सायिक रंगमंच की तकल में, यहाँ विशुद्ध व्यावसायिक उद्देश्यों के कारण  
विकसित हुआ। यह 'बम्मई', 'अहमदाबाद', 'कलकत्ता', 'हैदराबाद', 'साहीर'  
जैसे कहीं पैदा हुआ, पर यह विकसित हुआ पूरे मध्यप्रदेश अर्थात् पूरे हिंदीभाषी  
क्षेत्र में। इसने इस क्षेत्र की धार्मिकता, राष्ट्रीयता, पुनरुत्थान की भावना,  
हिंदुत्व और इसकी सभुची सांस्कृतिक स्थिति का व्यावसायिक उपयोग किया।  
पूरी हिन्दीभाषी जनता ने रंगमंच को अपनाया और इसको दर्शक को हैसियत  
से अपना उन्मुख संरक्षण दिया। पर इस विशेष युग और काल का बुद्धिजीवी  
—विशेषकर हिन्दी लेखक ने इसे पश्चिम का समझकर इससे अपने को दूर  
रखा और जैसे वल काल में बुद्धिजीवी का दृष्ट उस काल के अंधेरी के प्रति  
'असहयोग', 'सत्याग्रह' और 'संघर्ष' का था, वही दृष्टिकोण उसने इस 'थियेटर'  
के प्रति भी अपनाया। इसे उसने स्वभावतः 'कष्ट', 'अप्लीस', 'हानि',  
'भारतीय', 'अधु' कहा और कार्तिकेय काल से ही उसने दो निश्चित रूप  
अपनाए :

- (क) पारसी रंगमंच और नाटक को उसने 'थियेटर' और 'ड्रामा' कहा  
और इसे पूर्णतः विदेशी मकस मानकर इसे सर्वथा अछूत माना।
- (ख) इसकी प्रतिक्रिया में उसने नाटक को रंगमंच से दूर कर इसे  
साहित्यिक दर्शने के लिए इसे भाव, विषय और भाषा अभिव्यक्ति,  
सभी स्तरों से अत्यन्त गम्भीर, स्थिर और उपदेशमय बनाया।

इसे किसी तरह संस्कृत नाट्य से जोड़कर, स्वदेशभोज, प्राचीन भारतीय शरिमा, सुद भारतीय भाषि से मण्डित करना चाहता ।

रंगमंचीय नाटक और साहित्यिक नाटक—ये जो दुर्भाग्यपूर्ण परस्पर विरोधी कारणें हिन्दी में नहीं, इसका अर्थम विदु ग्रहो है । जबकि सम्पाद यह है (संस्कृत के जो सारे नाट्यकारों और नाटककार मानते हैं) कि जो नाटक रंगमंचीय नहीं, अर्थात् जो मंचम्य नहीं किया जा सकता उसे नाटक की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती । जो 'रचना' मंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत 'रंगमंच' में बैठे हुए दर्शकों द्वारा समर्थित नहीं होती वह कोई नाटक ही नहीं, जसमें चाहे जितनी 'साहित्यिकता' क्यों न हो ? क्यों कि यहाँ अन्ततोगत्था सर्वोपरि मूल्य 'रंग' या 'नाट्य' है, साहित्य नहीं । और इस भुनियावी मूल्यका प्रतिमान रंगमंच है । नाटक की रचनाप्रक्रिया नाटककार की कसम से शुरू होकर निर्देशक, अभिनेता, रंगमंचिणी और दर्शक तक पहुँचकर सम्पूर्ण होती है । इस भुनियावी सत्य की उपेक्षा अथवा अज्ञानता ने हिन्दी रंगमंच की जैसे कमर ही तोड़ डाली ।

पारसी थियेटर के रंगकर्मी और नाटककार विभिन्न तरह पश्चिम के रंगमंच का वास्तविक, मूल्यवाद 'धामा' नहीं पकड़ सके, ठीक उसी तरह यहाँ के बुद्धिजीवी (उस काल के साहित्यकार) संस्कृत रंगमंच का मूलभूत 'नाट्य' नहीं था सके । दोनों अपने कारणों से केवल बाह्य को, या उपादा से उपादा 'रूप' को पा सके, 'सौंदर्य' से दोनों मंचित रह गए । इसका कारण है—एक सवे काल तक रंगमंच परंपरा में दुर्मेघ व्यवधान ।

इस काल में भारतेन्दु पहले ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इसी दुर्मेघ व्यवधान को अपने हंग के, अनेक छरावकों से पाठना भाजा है, और स्वयं एक सेतु बन कर अपनी एक नई परंपरा को पाना भाजा है ।

यह सच है कि हिन्दी क्षेत्र में लोक-रंगमंच की परंपरा अबाध रूप से विद्यमान थी । रामलीला, कृष्णलीला, स्वांग, भगत, नोटंकी भादि सब थे । पर इनका संबंध उस मरमे हुए समय, युगवीय से कतई नहीं था । राम का मृग्य की कथा में न कोई परिवर्तन कर सकता था, न उस परंपरा के सौचों में यह प्रतिष्ठा थी कि लीला, स्वांग, और नोटंकी को उत्काशीन स्थितियों से जोड़कर उसे जीवंत बनाने तथा उसमें समसामयिकता के तत्व जो डालें । जैसे कि अंगाल

में उनके परंपरा एक नई नाट्यम

हिन्दी में

'अंधेर रागरी' सच कर की है

विचार करके अ

कर । 'अंधेर रागरी'

सत्य सभामि

समुदाय रंगमंच

वही की नहीं स

रहा । विकसित

समाज की पुनः

जसे इन विषयों

काल का दर्शन

पर यह कि

की नजर में क

तक, यह इतना

हिन्दीभाषी क्षेत्र

'क्रान्तिकारी से

क्रमशः यह 'र

दसम के अन्त

ऐसी परिधि

हिन्दीभाषी क्षेत्र

इन दोनों परस्पर

राष्ट्रीय चेतना,

चटक रंग चट

हीरव, स्वदेश

अभ्यन्तरपूर्ण रंग

बाह्य से समस्त

बाह्यो में सब

इस प्रयोग

हिन्दी भाषा की

में उनके परंपरागत लोकनाट्य 'माला' में तुवा और उसमें से भागे पैदा हुई एक नई नाट्यपरंपरा ।

हिन्दी में उस नयी नाट्यपरंपरा की एक सार्थक सहाय्य भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी' नाटक है । और यह एक सहाय्य भारतेन्दु ने कितनी सच्ची भावना व्यक्त की है । संस्कृत के सभी नाट्यकारों, रूपों को निश्चिन्त । 'रंगमंच' पर विचार करके और 'नाट्यमंडलियों' स्थापित कर, नाटकों के स्वयं अभिनय-निर्देशन कर । 'अंधेरनगरी' कितनी परंपराओं को अपने में पचाकर अपने समय में उत्पन्न सामाजिक जीवन का एक चयाय रूपक है—जिसकी भाषा, रूपरंग और समूचा रंगमंच हिन्दी को अपनी मौखिक कृति है । पर इसके बाद यह परंपरा वहीं की वहीं रुक गयी । और ठीक इसके विपरीत पारसी चिप्टर विकसित होता रहा । विकसित इस अर्थ में कि यह समय के अनुसार राष्ट्रीय चेतना, सर्व और समाज की पुनर्स्थापना की चेतना को अपना विषय बनाते लगा । इसलिये नहीं कि उसे इन विषयों में किसी प्रकार की स्वयं व्याप्ता थी, बल्कि इसलिये कि उस काम का दर्शनार्थ यही निषय चाहता था और इसी भावना में यह रंग था ।

पर यह विषयभाषना उतना ही जितना कि उस समय की अंग्रेजी हुकूमत की नजर में कहीं बढके नहीं । प्रथम महागुट के बाद से तीसरे दशक के अन्त तक, यह इतना काम पारसी चिप्टर का चरम सकलता का काल है—और हिन्दीभाषी क्षेत्र के लिये यह काम 'संदेशी जादोसन,' 'असहयोग आंदोलन,' 'क्रान्तिकारी संघर्ष' का समय है । इसके अभाव में अंग्रेजी हुकूमत की ओर से क्रमशः यह 'रोसेट गुन्ट', 'कलियावाला हत्याकांड,' 'कन्दूलन एकाई' और बमन के जग्य दूर चक्र का काल है ।

ऐसी परिस्थिति में पारसी चिप्टर की दोबारी उसवार पर चसना पडा । हिन्दीभाषी क्षेत्रों की जनता की भावना का अभाव, और अंग्रेजी हुकूमत से भय । इन दोनों परस्पर विरोधी स्थितियों का हल पारसी चिप्टर ने ढूँढ निकाला । राष्ट्रीय चेतना, पुनर्स्थापना की भावना पर हक, मेसोड्राना, रोमानियत का घटक रंग जडा देना । इसके बाद भी यदि कहीं राष्ट्रीय चेतना, भारत का औरत, स्वदेश भावना, हिन्दुत्व विवे, तो उसे अजीबोगरीब सीन सीनरियों, चमत्कारपूर्ण रंगमंचीय करिष्मों में इस तरह काँप दिया जाय कि दर्शक उसी बाह्य से चमत्कृत रह जाय और इसके ऊपर गाने, 'रक्त', गाय गौरव की चाकनी में सब कुछ अजीब रंग से मोटा पीठा कर दिया काम ।

इस प्रसंग में यह एक बात और उल्लेखनीय है कि जैसे जैसे राष्ट्रीय चेतना हिन्दी भाषा और इसकी संस्कृति से जुड़ती गयी है, वैसे वैसे पारसी कंपनियाँ

ने सर्वकामाचारकों (राक्षसराज), हिन्दू धर्म, पुराण और इतिहास को लक्ष्य निर्यात के विषयों वाले नारायण प्रसाद 'बिताव' को महत्व देना शुरू किया। कुछ हिन्दी भाषा और हिन्दी के छंद, गीत और इतिहास, पुराण की सीधी भाषा। राष्ट्रीय भावधार, हिन्दुत्वपरिष्ठा, बतम की भावक पर कुर्बान हो जाना—इसके चित्तों उदरय सारे पारसी नाटक में से लिए जा सकते हैं—

.....बैकफूक मुन, अपने अहले बतम के विम से भीत का डर दूर करने के लिये मुझे जिंदा रहने को ज़रूरत थी, और मुक है कि मैं जिंदा हूँ, लेकिन सोहराब के लिये नहीं, अपने मुक्त के लिये, मुहम्मद के लिये नहीं, अपने बतम की विधमर के लिये.....

(न. आकरीष : बाब दूधरा, चीन छटा, 'स्तम व सोहराब')

'कुर्बान बाबा कहे धर्म, तो कहना विषकार।

और परतंत्र का, संसार में रहना विषकार ॥'

(दोभाधर्म : पहला अंक सातवाँ सीन, 'बीर अभिमन्यु')

'द्वार देख, यह भारत की हिन्दू सभकी, जिसकी जात में परमात्मा ने सभुतला की भूवसूरी, सीता का पतिव्रत धर्म और राधिका का प्रेम जमा कर दिया है, इसके लिए मुहम्मद का कर्ताब और अपने वास्ते आकाकारी स्वसाध ..'

(दोभाधर्म : पहला अंक, चीन छटा, 'किल्बसंधम')

'गाफिल पड़े सोले हैं जो, बैठे हुए वो चीन हैं,

समसें तो विम में जान से भारत निबासी कोन हैं।

जो बीर से कायर बने, बानी बने अज्ञान हैं,

यह भी तो हैं भूले हुए मिला बाप की संतान हैं।

जो कह दिया करके रहे वे बात के कैसे धनी,

छोड़ा नहीं निब धर्म को प्राणों से बाहे का जनी।'

('बिताव'—'महाभारत', पहला दृश्य—प्रस्तावना)

पर से सारी भावनाएँ, उद्धार, उपदेश, साधन के रूप में आये विम पर भी इसे जगता: संभुचित किया (उके रखा) मुहम्मद की दीवानगी ने, राजा बहादुर और अटपट सिहू की विद्वकी ने, सीमागंध, हरीदास मारवाड़ी चरितों, मिरासी, सबसभी, समाजवीनों के हास्य से तथा चेता कुमार, सही गोपी के अति विचरितर प्रसङ्गों ने।

विष्णुस जेका हसी के समानांतर इसी काल में बयबांकर प्रसाद अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में इसी पुनरुत्थान की भावना और

राष्ट्रीय गीत  
कहकर, उल  
रहे थे। यह अ  
यह नहीं है, क  
के नाटकतलों  
चाहा है, उसके  
स्वयम्भूत रंगार  
प्रत्यक्ष रंगमंच

प्रसाद ने

रंगमंच का पु  
पारसी विप्लव  
साहित्यकता म  
में बंगालम म  
देखा होता, उ  
कि काम्बोल्म  
विपरीत पक  
अन्वेषण भी  
विद्यमान में पा  
उन्होंने चीन  
समाहार ('कि  
चरित और  
से चलकर 'क  
'उद्घाटन' से  
विधान का  
रंगविधान को  
धर्मिक की क  
जायको निर्धिर

पारसी वि  
से विस्तृत नि

राष्ट्रीय और लोक को विकोर नव की मातृकता और समावाची कुदेविका से  
 हककर, उस पर अस्मयता का शीघ्र सा आवरण पड़ाकर अधिव्यक्त कर  
 रहे थे। यह अत्यन्त उल्लेखनीय है कि भारतीय ने ऐसा कहीं नहीं किया है।  
 यह यही है, यहाँ एक ही स्पष्ट सीमा है और उस पर उन्होंने पारसी विष्टर  
 के मातृकताओं को अपना बाध्य नहीं बनाया है। जो उन्होंने प्रकट करना  
 पड़ा है, उसके लिये उन्होंने पारसी विष्टर से स्वतंत्र अपना सर्वथा अलग  
 कल्पना तैयार किया है। इसका कारण था कि प्रसार के विपरीत भारतीय  
 प्रथम रंगमंच के लिये वे और स्वतन्त्र नाट्यपरंपरा के लिये संघर्षरत थे।

प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने नाटक का स्वयंसेवक और  
 रंगमंच का पूरा विज्ञान सीधे पारसी विष्टर से ज्यों का त्यों ले लिया और  
 पारसी विष्टर के विपरीत (प्रतिक्रिया स्वरूप) उन्होंने उसमें काव्यात्मकता,  
 साहित्यिकता भर दी। यह बिल्कुल वैसा हुआ, जैसे कराम की मोतस (बिदेवी)  
 में बंगालस भर देना। यदि प्रसाद ने भारतीय की परंपरा में रंगमंच को  
 देना होता, उससे यह प्रत्यक्ष सम्बन्धित होते ही निश्चय ही वह अनुभव करते  
 कि काव्यात्मक वस्तुविषय के लिये पारसी रंगमंच का कल्पना बिलकुल  
 विपरीत पड़ता है। इसके ही भागे प्रसाद को अपने लिये एक रंगमंचो का  
 अन्वेषण भी करना था, जिसे वह संततः नहीं कर सके। कदा और परित्र  
 विज्ञान में पारसी विष्टर के विपरीत (मुख्यतः भाषा वृत्त की मातृकता के)  
 उन्होंने तीन संकों, अर्थात् परमसीमा से भागे 'फलावम' (संस्कृत) और  
 समाहार ('विनाउमेंट'-जेम्सपियर) तक सोचा, और उसी के अनुरूप कथा,  
 परित्र और अंककल्प योजना बनायी। संस्कृत रंगमंच का नाटक 'वारंम'  
 से बसकर 'फलावम' तक पहुँचने के लिये, जेम्सपियर के विष्टर का 'इना'  
 'उत्पादन' से लेकर 'समाहार' तक जाने के लिये पारसी विष्टर जैसे कल्प  
 विज्ञान का सहारा न लेकर कुछ अवधारणाओं, काव्यात्मक (कल्पनिकाता)  
 रंगविज्ञान को अपना माध्यम बनाता है—और सभी निर्देशक, अभिनेता और  
 दर्शक की कल्पना, सृजन शक्ति को जगाता हुआ कई स्तरों पर अपने  
 धारकों निर्मित और संपूर्ण करता है।

पारसी विष्टर का द्वारा रंगविज्ञान प्रसाद के मातृकताओं और अन्वेषण  
 से बिल्कुल विपरीत पड़ने के कारण, नाटककार प्रसाद की धार्मिक को बहिष्कृत

पुराण और इतिहास को नवी  
 को महत्व देना शुरू किया।  
 और इतिहास, पुराण की सीधी  
 को आत्म पर कुर्बान हो  
 में से लिए जा सकते हैं—  
 को मोक्ष का दर दूर करने के  
 है कि मैं जिवा हूँ, लेकिन सोह-  
 के लिये नहीं, अपने बचन की  
 चीन छटा, 'इस्तम व सोहराव')  
 हना धिक्कार।  
 धिक्कार ॥'  
 'वीर अभिमन्यु')  
 का जल में परमात्मा ने  
 और शक्ति का प्रेम बना कर  
 अपने वास्ते धागाकारी  
 'वीर अभिमन्यु')  
 को मोक्ष है,  
 विनाशो की है।  
 अपने अज्ञान है,  
 की सतान है।  
 के कैसे सती,  
 'वाहे का ननी।'  
 'पहला दृश्य—प्रस्तावना)  
 भाषण के रूप में आये विश्व  
 सुदृश्य की सीमानगी ने,  
 मोक्षार्थ, हरीदास भारवाची  
 ने तथा चेता बजार, सती  
 में बयबाकर प्रसाद अपने  
 पुनरुत्थान की मातृकता और

राष्ट्रीय और इतिहास को नवी-  
करण की महत्त्व देना शुरू किया।  
राष्ट्रीय इतिहास, पुराण की सीधी-  
सीसी को आधार पर कुर्बान हो  
कर ही हिन्दू का उदय है—  
यह ही योत का डर दूर करने के  
लिए ही जिवा है, लेकिन सोह-  
का के लिये नहीं, अपने बचन की

प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने नाटक का स्वभाव और  
रंगमंच का पूरा विज्ञान सीधे पारसी थिएटर से ज्यों का त्यों ले लिया और  
पारसी थिएटर के विपरीत (प्रतिक्रिया स्वभाव) उन्होंने उसमें काव्यात्मकता,  
साहित्यिकता भर दी। यह विशुद्ध तैले हुआ, जैसे सराब की बीतल (विदेशी)  
में बंगाल भर देना। यदि प्रसाद ने भारतीय की परम्परा में रंगमंच को  
देखा होता, उससे वह प्रत्यक्ष सम्बन्धित होते ही निश्चय ही वह अनुभव करते  
कि काव्यात्मक वस्तुविषय के लिये पारसी रंगमंच का रूपक बिल्कुल  
विपरीत पड़ता है। इसके भी जाने प्रसाद को अपने लिये एक रंगमंच की  
अन्वेषण भी करना था, जिसे वह संतुष्ट नहीं कर सके। क्या और चरित्र  
विज्ञान में पारसी थिएटर के विपरीत (मुख्यतः जाया बुध की नाट्यता के)  
उन्होंने तीन संकों, अर्थात् चरमसीमा से जाने 'फसानम' (संस्कृत) और  
समाहार ('फिनाउमेंट'-सेक्सपियर) तक सोचा, और उसी के अनुसृत रूप,  
चरित्र और अंकुश योजना बनायी। संस्कृत रंगमंच का नाटक 'आरंभ'  
से चलकर 'फसानम' तक पहुँचने के लिये, सेक्सपियर के थियेटर का 'इना'  
'उपकान' से लेकर 'समाहार' तक जाने के लिये पारसी थिएटर जैसे रूप  
विज्ञान का सहारा न लेकर कुछ अवधारणाएँ, काव्यात्मक (कल्पनिकात्मक)  
रंगविज्ञान को अपना माध्यम बनाया है—और सभी निर्देशक, अभिनेता और  
दर्शकों की कल्पना, सृजन शक्ति को जगाता हुआ कई स्तरों पर अपने  
धारकों निर्मित और संपूर्ण करता है।

पारसी थिएटर का द्वारा रंगविज्ञान प्रसाद के नाट्यविषय और मूलबोध  
से निश्चल विपरीत पड़ने के कारण, नाटककार प्रसाद की धृति को बहिष्

सीन छटा, 'दस्तावेज व सोहराव')  
हना चिन्कार।  
वा चिन्कार II'  
सातवाँ सीन, 'वीर अभिमन्यु')  
विश्वकी पाठ में परमात्मा ने  
और पश्चिका का प्रेम जमा कर  
और अपने वास्ते आजाकारी  
क, सीन छटा, 'विश्वमंगल')  
हूए जो भीन है,  
निवासा कोन है।  
जने अज्ञान है,  
न की सतान है।  
न के कैसे धनी,  
बाहे या ननी।'  
क, पदना दृश्य—प्रस्तावना)  
आचन के रूप में आये विश्व  
) सुदम्बल की दीवानगी ने,  
सीमागंध, हरीदास भारवाही  
रूप ने तथा चेतन बजार, सभी  
मल में अवशोषक प्रसाद अपने  
सुवस्वाम की भावना और

ही नहीं करता, उन्हें बिछेर देता है। पारसी पिएटर जैसे 'हक' और राष्ट्रियता के ही विरोधी धोरों पर बना था, ठीक उसी तरह प्रसाद की समूची नाट्यकला पारसी पिएटर और 'आत्मा' की संकल्पनात्मक अनुभूति के परस्पर विरोधी धारों पर आधीन थी। जहाँ सारा दृश्यत्व रंगे हुए पदों, सीन सौन्दर्यों, और अभिनय के लेकर यानिक प्रभावों तक सीमित है, वहीं काव्य के लिये कल्पना और गहराई की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। जहाँ काव्य केवल संवाद में ही सकता है या सीनों में। यही प्रसाद के नाटकों में हुआ था।

इतना ही नहीं प्रसाद के काव्यस्वर पर वही दक्षिण, सूचित, पारिभाषिक राष्ट्रियता, नबोत्थान, समाजसुधार का अतिस्वर छाया रहा—

'आर्य ! इस गुदभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सख्त, और आर्य राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सख्त, आप लोग इसके लिये भगवान् से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद कीजिये कि स्वयंभुक्त अपने कर्तव्य से, स्वदेहिता से कभी विचलित न हो ।'

(स्वयंभुक्त — भासव में मूर्धाभिषेक होने पर)

'सटार्क यदि कोई साबी न भिजा तो साम्राज्य के लिये नहीं कर्मभूमि के उठार के लिये मैं अकेला युद्ध करूँगा ।'

(स्वयंभुक्त)

दो परस्पर विरोधी रंग प्रवृत्तियों के प्रयोग के कारण, तथा नाटक में पाठ्य भाष्य के कारण विषय, कथा, चरित्र और संकल्पना के स्तर पर अनेक सीमाएँ और सामने आती हैं।

एक ओर प्रसाद ऐतिहासिक नाटक सिखने के पीछे प्राचीन भारत के 'भौतिक इतिहास' के 'अन्वेषक' होना चाहते थे, दूसरी जैसे 'बेताज' और राधेश्याम ने क्रमशः 'महाभारत' और 'बीर अभिमन्यु' के समूचे महाभारत का सार और पूरी अभिमन्यु गाथा कह मानना चाहा है ठीक इसी तरह प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' और 'स्वयंभुक्त' में इतिहास कथाओं से दोनों कार्यों की समूची तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों को लक्ष्मण करने का प्रयत्न किया है। और इन्हें 'नाटक' भी बनाना चाहा है। इसका फल यह हुआ कि इन दोनों नाटकों में 'वस्तुकास' बहुत ही सम्रा हुआ है— ठीक जैसे जैसे 'बेताज' के 'महाभारत' में। 'चन्द्रगुप्त' का वस्तुकास पचवीस वर्ष का है (जो भारतीय नाट्यशास्त्र से कथ्य है, पर पारसी पिएटर के अनुकूल है)। इस लम्बे काल के किस प्रकार नाटक को हानि पहुँचती है, यह इतने स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आरंभ

में किन्नोर या पुन पर नाटककार 'बि नहीं रहा जाता है 'चन्द्रगुप्त', 'राज 'नाटक' दोनों स्तर

पारसी पिएटर एक समस्कारमुक्त बसलकारमुक्त हक पार अंकों का यह भारत'। घटनावैधी भी। चन्द्रगुप्त का पिल्लिष्ठ से उभा घटनाएँ, कथाय सु कारण नाटक को काव्यत्व को स्वम

अंकों की गुण अंत शौकी (टेम्प्लो प्रभाव साधने आ 'हृष', 'बेताज', 'नीम है। अंततः ५

सगता है प्र पहुँचते-पहुँचते स्व संघलेनी की और बा मंच हक का 'राजशासन', 'प्र का संकेत कर देते विधिवत्, नाटकी मपार्थबाधो रंभमं मंचविद्या नाटक हस्तेपाल हुआ है

में किर्नोर या मुवा के, उन्हें स्वजायता अंत में ग्रीक या युद्ध हो जाना चाहिए। पर नाटककार 'बेताब' 'राधेश्याम' की तरह तथ्य पर ध्यान न देकर उन्हें वहीं रखा जाता है। और 'कार्नेलिया', 'कल्याणी', 'मात्मिका', 'सुवासिनी', 'चन्द्रगुप्त', 'राजस' आदि पच्चीस वर्ष बाद भी युद्ध ही है। 'इतिहास' और 'नाटक' दोनों स्तरों पर ऐसी अनेक सीमाएँ दोष सामने आते हैं।

पारसी थिएटर में दर्शक को लुप्ताने तथा पूरी कथा अन्त में के लिए एक से एक चरित्रकारमुखक दृश्यों की अवतारणा की जाती थी। 'चन्द्रगुप्त' में भी ऐसे चरित्रकारमुखक दृश्यों के मोह में इसे रचनागत कटावकता से भर दिया है। चार अंकों का यह नाटक जनवास दृश्यों में कैसा है—जैसे 'बेताब' का 'महा-भारत'। घटनावैशिष्ट्य साने के शिथिलकरण दृश्य बढ़ाए गए हैं और पात्र भी। चन्द्रगुप्त का कल्याणी को पीले से और कार्नेलिया को मनुष्यरूपी पीले क्रिमिक से बचाना, 'इस्तम' की माय विनाता है। इसमें और भी अनेक घटनाएँ, कथागत युद्ध, काव्यस्वाभाव, विचित्र पारसी थिएटर के समान होने के कारण नाटक को अनावश्यक रूप से अतिरंजनाप्रधान बनाते हैं, और इसके काव्यरस को स्वजायता तोड़ते हैं।

अंकों की सुख्यात 'इस्तम सोहराब' के विधान की माय विनाता है, पर इनके अंत श्रांती (डिक्ले) विधान के अनुकर होते हैं और 'बेताब' 'राधेश्याम' का प्रभाव सामने आता है। दृश्य, प्रवेश, प्रस्थान, कार्यस्वाभाव—इन सब पर 'हृष', 'बेताब', बी० एल० राय,' राधेश्याम के परस्पर चिरोप्री प्रभाव जल्लि-नीय हैं। अंततः प्रभाव की कोई रंगरौशी तभी स्पष्ट उभरकर नहीं आती।

सगता है प्रभाव ने अपनी इस रंगमंच सीमा को 'द्रुमस्वामिनी' तक पहुँचते-पहुँचते स्वीकार किया है और 'द्रुमस्वामिनी' में यह यथार्थवादी रंग-मंचशीली की धोर झुके हैं। इससे पहले के किसी भी नाटक में उन्होंने दृश्यसज्जा या मंच दृश्य का इतना विधिवत् विधान नहीं दिया है। केवल 'स्वशाधार', 'राजशाधार', 'प्रकोष्ठ', 'प्रमत्तान', 'सुदस्वक' आदि एक माध्य से वह पुरे दृश्य का संकेत कर देते थे; पर वहाँ द्रुमस्वामिनी में उन्होंने आकाशवा दृश्यों का विधिवत्, नाटकीय हेतु बचन किया है। पर ध्यान देने की बात यह है कि यथार्थवादी रंगमंच जैसा उनका नाट्यविधान ही नहीं है। तभी मंचशासत्री, मंचविधान नाटक के जीवन से सर्वनिष्ठ न हो, मात्र इसकी शोभा के रूप में इस्तेमाल हुआ है। जबकि यथार्थवादी मंच की प्रत्येक वस्तु, मूक पात्र के रूप

थिएटर जैसे 'दृश्य' और  
की इसी तरह प्रभाव की  
की संकल्पनात्मक अनुभूति के  
द्वारा दृश्यत्व रंगे हुए पक्षों,  
आवों तक सीमित है, वहाँ  
वस्तु नहीं हो सकती। वहाँ  
में। यही प्रभाव के नाटकों

कथित, सुचित, पारिभाषित  
जया रहा—

य से प्राप्त कर सकें, और  
य को इससे लिये भगवान्  
संकेतबुद्धि अपने कर्तव्य से

में सुवर्णमय होने पर)  
के लिये नहीं कल्पयुधि  
(स्फंदगुप्त)

के कारण, तथा नाटक में  
र अंकविधान के स्तर पर

के पीछे प्राचीन भारत के  
इसरी जैसे 'बेताब' और  
'के समुचे महाभारत का  
की इसी तरह प्रभाव ने  
दोनों काव्यों की समुची  
का प्रयत्न किया है। और  
है कि इन दोनों नाटकों  
'बेताब' के 'महाभारत'  
नाटकीय नाट्यशास्त्र से  
जैसे काव्य के किंच प्रकार  
है कि जो लोग आरंभ



से सर्वांग ठन से नियोजित होती है और उनसे व्यंजना, सर्ववला पैदा की जाती है। यह सब 'ध्रुवस्वामिनी' की नाट्य बुनियाँ से बाहर की बातें हैं।

इन सब सीमाओं के बावजूद प्रसाद के नाटक की कुछ उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं, जिन्हें उनकी रंगमंचगत सीमाओं से बंध कर प्राप्त किया जा सकता है।

काव्यरस, प्रमुख उपलब्धि है, जो नाटक को सही जगहों में नाटक स्थित करते हैं। इसी रस से मुख्यतः 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी,' में एक अजब तरह का संयोग है, जो आज तक बना हुआ है।

उन्होंने इतिहास पुराण को पारसी सिप्टर के नाटककारों की तरह न देखकर उसे अपने समय से जोड़ा है और इस तरह उनकी रचना भी की है। अपने समय की समस्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक चेतना को उन्होंने अपने रंग से छुआ है और उनकी ऐतिहासिक मानवीय गहराइयों में से गये हैं।

हम्यत्व के साथ काव्यत्व को जोड़ने का प्रयत्न इनमें उल्लेखनीय है। इसी लिये पारसी सिप्टर को सर्वथा भूलकर या काटकर यदि कल्पना की जायों से 'स्कन्दगुप्त' को देखा जाय तो एक महारघुर्ष नाटक और रंगमंच कसमें से उभरता है। ऐसा रंगमंच जो हिन्दू धीवर्षवोध स्वाध्याय, बस्य रंग रूप सबको और सार्थक संकेत देता है।

उनके चरित्रों में कई जायाम हैं; जो उन्हें उनके परिवेश से जोड़कर मानवीय और नाटकीय दोनों दुर्गों से मंडित करते हैं। उनमें गम्भीर संघर्ष छिपा है, वे चरित्र से व्यक्तित्व प्राप्ति की ओर बढ़ते सिद्ध होते हैं, और कभी-कभी तो वे सधमुच 'संगीत की अंतिम महारदार तान छोड़कर' हमारे मानस में धर कर लेते हैं 'स्कन्दगुप्त', 'देवसेना' ऐसे ही अग्रतिम चरित्र हैं।

प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों में, पारसी सिप्टर से सर्वथा बंधे, पूर्णपिद ध्यान दिया है और नाटक की कवाचस्तु, चरित्र को ऐसे नाटकीय बिन्दु से उभारा है जहाँ से वर्तमान और पूर्ववर्ती सटन्यों और क्रियाओं से कलात्मक संबंध जोड़ते चलते हैं।

अन्य नाटककार

इस काल के अन्य नाटककारों में उल्लेखनीय है -

सहमीनारायण मिश्र

३४ गोविन्द  
हृदय  
विश्व प्रकाश

कवि का मातृ  
के स्तर पर प्र  
प्रतिक्रिया, प्र  
नाटककार वि  
पारसी सिप्टर  
के रंगमंचान  
त्मकता के विर  
'बाध मू  
करना। भाव  
मूल में बही  
बुद्धिवाद स्वतः  
बुद्धिवादी व्यति  
(मैं बुद्धि

बुद्धिवाद से स्व  
सामाजिक भी  
इन दोनों क्षेत्रों  
सेवा है, वे वि  
पहुँचाये गये।  
स्वोकार नहीं  
सिद्ध बुद्धि  
के साथ 'बुद्धि  
किसी कौटि क  
में सुबहकोटेक  
भाव गहरा ही  
के लिये, ह्यप  
नवीन स्फूर्ति

इस बुद्धि  
जो बाधसार्थ

सैड कोरिय वास

हरिकृष्ण त्रेनी

जिस प्रकार नाटककार प्रसाद के भीतर भारत के अतीत के प्रति भावना, कवि का सामुहिक व्यक्तित्व, तथा पारसी पिएटर का सम्बंध और रंगविज्ञान के स्तर पर प्रभाव और विषयवस्तु, भाषा, चरित्र आदि के प्रति बढ़ती प्रतिक्रिया, प्रमुख शक्तियों के रूप में कार्यरत थीं, ठीक उसी प्रकार नाटककार मिश्र के भीतर प्रसाद की काव्यात्मकता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया, पारसी पिएटर के प्रति तीव्रतर दुरास और इनके स्थान पर इस्लाम के नाटकों के रंगविज्ञान की स्वीकृति कार्य कर रही थी। उन्होंने सबसे पहले भाषानात्मकता के विरुद्ध 'बुद्धिवाद' का स्वर बुलंद किया :

'अच्छे सूझकर स्वीकार कर देने से खेपकर है, जाँच खोलकर बसोकाव करना। आज बिन जिसे हम बुद्धिवाद या नौदिक मीमांसा कहते हैं, उसके मूल में यही खेपना काम कर रही है... मेरा अपना विश्वास तो यह है कि बुद्धिवाद स्वतः अनंत विपदास है। उसमें भ्रम और मिथ्या को स्थान नहीं... बुद्धिवादी व्यक्तिवारी भी हो सकता।' (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ? ... मिथ्या 'मुक्ति का रहस्य' की प्रथम संस्करण की भूमिका, पृष्ठ ४)

बुद्धिवाद से स्वभावतः व्यक्तिवाद की ओरकर मिथ्या ने व्यक्तिगत नैतिकता, सामाजिक नीतिनिर्वाह के क्षेत्र में बड़े ही निर्भीक और स्वतंत्र ढंग से सोचा। इन दोनों क्षेत्रों में 'सफाई भी है, जिस रूप में है, उसे तो वह स्वीकार कर लेता है, लेकिन उस पर कितने बैठन पड़े हैं, उसे कितने कपड़े और गहने पहनाये गये हैं, वह कितनी जंजीरों में बाँधी गई है, इन बातों को वह स्वीकार नहीं करता।' 'संन्यासी' (१९३०), 'राक्षस का मन्दिर' (१९३१) मिश्र बुझने के बाद 'मुक्ति के रहस्य' की भूमिका में उन्होंने बड़े विश्वास के साथ 'बुद्धिवाद' की स्थापना की। कहा 'बुद्धिवाद किसी तरह का ही, किसी कोटि का हो, समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता। बुद्धिवाद में सुगरकोटेक कुत्ते' की संवस्था है ही नहीं। वह तो तीक्ष्ण श्लथ है। उसका घाव बहुरा तो होता है लेकिन अंधधुंध करने के लिये नहीं। मवाद निकलने के लिये, हमारी प्रसूत बेठना को जगाकर हमारे भीतर नवीन जीवन और नवीन सूर्यित पैदा करने के लिये।'

इस बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद के भीतर के मिथ्या ने नाटक समकक्षी को मान्यताएँ बसायीं, उन्हें इन विस्तारों से देखा पकड़ा जा सकता है :

ता, वर्षवला पैदा की जाती  
हूँ की बातें हैं।  
को पुन उपलब्धियाँ उल्लेख-  
र प्राप्त किया जा सकता

सही क्यों मैं नाटक मिश्र  
'व्यक्तिवारी' में एक अक्षर

ककारों की तरह न देख-  
मैनी रचना भी की है।  
के चेतना को उन्होंने अपने  
पक्षों में ले गये हैं।

में उल्लेखनीय है। इसी  
वि कल्पना की क्षमता से  
और रंगमंच उद्यमों से  
, बस रंग रूप सबको

के परिवेश से जोड़कर  
हैं। उनमें गम्भीर संघर्ष  
मिथ्य होके हैं, और  
पर तान छोड़कर' हमारे  
ही अवधि चरित्र हैं।

में, पारसी पिएटर से  
कथावस्तु, चरित्र को  
पूर्ववर्ती घटनाओं और

बुद्धि और तर्क के भीतर से ही यथार्थ की अभिव्यक्ति नाटक में हो सकती है, भावना या कल्पना से नहीं।

यही और ऐसा ही यथार्थवादी नाटक, नाटक कहलाने का अधिकारी है। इन दोनों आविष्कारों को देखने से प्रकट है कि यथार्थवाद की वह प्रेरणा इन्होंने इच्छन से ली। मसलत यहाँ पारसी नाटक और रंगमंच, तथा प्रसाद का नाटक और रंगमंच जेबसपियर और विक्टोरिया नाट्यपरंपरा से प्रत्यक्ष संबंध है, यहाँ इन्होंने इन दोनों की प्रतिक्रिया में, अपने 'नाट्य' का सम्बन्ध ठसठि आगे बढ़कर इच्छन से जोड़ा।

पर 'इच्छन' के नाट्य का 'यथार्थवाद' वह नहीं है जो मिश्रणी ने ग्रहण किया। यह बहुत उसके 'यथार्थ' का बाहरी ढाँचा है, जो स्वर से 'समाज सुधार,' 'समाजसोचन' और परंपरा के प्रति 'विद्रोह' का विश्वास है। यह यथार्थ उठता ही नहीं है जो परस्पर मोलभाव की भाषा में (वाच विवाद) प्रकट होता है, या घर गृहस्थी कपड़े या द्वादशरूप के परिवेश के भीतर से अपने को प्रत्यक्षतः प्रकट कराता दिखाता है। वह यथार्थ नहीं, मसलत यथार्थ इन सब साधनों से कहीं आगे अप्रत्यक्ष रूप से विकसित, स्वनिर्मित होकर काव्यात्मक यथार्थ के धरातल पर आ पहुँचता है।

और दुनियावी सवाल यही उभरता है—मिश्रणी ने इच्छन से वह बाहरी यथार्थ हो क्यों ग्रहण किया? क्यों उन्होंने इच्छन के सम्पूर्ण यथार्थवादी रंगमंच को नहीं लिया? उन्होंने क्यों प्रत्यक्ष बुद्धि, तर्क के ही सहारे मानव समस्या का केवल सामाजिक 'समस्या' के ही स्तर से सोच विचार किया?

परसल नाटक के रंगमंच की दुनियाँ एक अप्रत्यक्ष संसार है। यँ वह प्रत्यक्ष तो सबसे ज्यादा है, पर नाटक का यह प्रस्थलीकरण अभिनेता, निर्देशक, रंगमंचाली की मकसदता से मंच पर दर्शक के सामने होता है। यह एक विनिश्चि विद्या ही नहीं, सब विद्याओं से ज्यादा यह दूसरों से (दूसरी कलाओं, मनुष्य, कलाकार, अनुभव, सूजन) संपृक्त है।

पारसी चिप्टर की प्रतिक्रिया में यही संपृक्तता पहले प्रसाद से टूटी, और प्रसाद के बाद दुहरी प्रतिक्रिया से यह 'मिथ,' 'सेठ,' 'प्रेसी' आदि के द्वारा टोड़ी गयी। 'प्रसाद' काव्यात्मकता को लेकर टूटे, पर ढाँचा 'पारसी चिप्टर' का ही रखा। इसलिये यह केसे भी हो, रंगमंच के विशाल के अन्दर कहीं न यही संपृक्त है। काव्यात्मकता उस दृष्टन में कहीं मसूवपूर्ण सेतु भी बनी है। यह सब इसलिये भी हुआ कि प्रसाद ने यथार्थ को कवि के धरातल से ग्रहण किया और उनका नाटककार 'अर्थ' की अपेक्षा आननीय 'सामाजिक' ज्यादा रखा।

'प्रसाद' ने रंगमंच से हम कोई नाटक भाषा का प्रस्ताव, कथात्मक

भाषा का अर्थ पारसी चिप्टर ही बात को, को बताता था उसी का अभि इसलिये भाषा प्रयोग में अभि मानिस या— इसी के अनुकूल से, इसलिये भी थी। 'प्रसाद' भाषा के भीतर तब या युगे साहित्यिक काव्यात्मक

और यहाँ 'प्रसाद' के 'अर्थ' अपेक्षा परस्पर तब कि प्रचारक, कवि इस सूजन धूमि वस्तु और यहाँ 'प्रसाद', बी० भरतमुनि तब

'प्रसाद' के बाद इन सभी नाटककारों (गोविन्द बल्लभ पंत को छोड़कर) ने रंगमंच से सर्वथा कटकर जिस दुनिया में जाकर नाटकों को लिखा, उसे यदि हम कोई भारतीय नाम देना चाहें तो निश्चित संज्ञा दे सकते हैं :

भाषा का रंगमंच  
 प्रस्ताव, धीसित, प्रबन्ध का नाट्य  
 कथारत्नक रंगविद्यालय का जगत्

भाषा का अत्यधिक प्रयोग पारसी थिएटर और 'प्रसाद' दोनों में हुआ है। पारसी थिएटर में इसके अति प्रयोग के पीछे दो कारण थे। वही अभिनेता एक ही बात को, भावना को दो तरह से बहुरे हंग से कहता था—पहले वह दर्शक को बताता था, फिर वही स्वयं कहकर (मुकपतः बहुरेखणीय और अन्य छंदों में) उसी का अभिनय करता था, दूसरे छंदमें 'प्रचारक' का अत्यधिक हस्तक्षेप था, इसीसे भाषा का अराजक प्रयोग हुआ था। पर बुनियादी हंग से इस भाषा-प्रयोग में अभिनेता इसके भीतर विद्यमान था और साथ ही इसमें दर्शक भी शामिल था—अतएव भाषा का यह अतिप्रयोग रंगमंच में पुनर्निश्चित गया था। इसी के अनुरूप उसमें अतिरेकनाप्रधान, चमत्कारसूचक घटनाएँ और कार्यव्यापार थे, इसलिए भी सावाणप्रयोग की वह अराजकता उसका अभिन्न अंग बन जाती थी। 'प्रसाद' में वही अभिनेता और दर्शकबोध पारसी थिएटर की तुलना में, भाषा के भीतर से कुछ दूर झूट गया। इससे जो अन्तर पैदा हुआ उसमें दो नये तत्व आ चुके :

साहित्यिकता  
 व्याख्याकार

और यही 'प्रचारक' के स्थान पर कवि का हस्तक्षेप आ गया।

प्रसाद के बाद मिश्र, सेठ, प्रेमी के भाषाप्रयोग में वही 'अभिनेता' और 'दर्शक' अपेक्षाकृत गायब हो गये। इनके स्थान पर क्रमशः आ गए परस्पर भाव विवाद करने वाले स्त्रीपुरुष (चरित्र नहीं) और 'पाठक'। और ये प्रचारक, कवि के स्थान पर तार्किक 'वकील' और 'बुद्धिजीवी शिक्षक' हो गए। इस सूजन भूमिका पर, जब इन नाटककारों ने 'इतिहास', 'पुराण' की कथा-वस्तु और चरित्र लिखे तो अपनी संस्कृति से स्वयं को जोड़ने के लिए 'हस्तगत', 'प्रसाद', डी० एल० राय', पारसी थिएटर सबको बुद्धिवादी बंधते हुए सीधे से भारतभूमि तक पहुँचे और अपने नाट्य का सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ने लगे।

'अक्षय को सत्य करने की यह विभिन्न पद्धति बेक्सवियर के नाटकों तक अपने वेग से चलती रही। इन्त्यन से बेक्सवियर के विपक्ष प्रसिद्धिया की, पर हमने दुर्भाग्य से डिमेत्र लाल राय ने धीरे धीरे बेक्सवियर का अनुकरण किया और यह अनुकरण देख की सभी भाषाओं पर छा गया। अब समय आया है जब इस देश के साहित्यकार अपने आसीन सिद्धांतों को समझें और जब से भी अपना सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ें।'<sup>1</sup>

इस सम्बन्ध जोड़ में भी इन्होंने संस्कृत रंगमंच के 'कवित्व' और 'कल्पना' को नहीं महूण किया, और इसके लिये जो उर्क दिया वह 'इन्त्यन' के प्रभाव में आकर दिया।

..... 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'—भारत के इस कवन से यह निश्चित हो जाता है कि लोकवृत्ति का चित्रण, उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के व्यापार, क्रियाकलाप का निर्वर्णन नाटक या साहित्य का कोई भी अंग हो सकता है। लोकवृत्ति प्रकृति की बनार्थ है। कोई कवि कल्पना से उन्नत निर्माण नहीं करता।'<sup>2</sup>

अर्हिए है जहाँ सरा रंगमंच 'भाषा' का है वहाँ 'नाट्य' को कवि कल्पना से क्या मतलब? वहाँ मतलब होगा ऐसी अतिनाटकीय स्थितियों से जहाँ अमकर—

\* धार्य अनाथ, माहाय शूद्र, धर्म और संस्कृति, दर्शन और कर्म, वेदांत और आनन्द, 'शेव और प्रेय', ('मत्तो', 'गुरुकुल', 'मरण की सीणा', 'बत्सराज', 'बलाशवमेघ') तथा व्यक्ति और समाज, नैतिकता बनाम अनेतिकता, राजस बनाम देवता, काम और सेवक, भाषार बनाम दुराधार, सामाजिक अन्धकार और व्यक्ति, हिंसा और अहिंसा ('संन्यासी', 'राजस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिद्ध की होसी') पर आद और विवाद और बहुत हो सके। हाँ भाषा के लीखे भाषों से असत्य का 'परिहास' किया जाय।

१. 'बलाशवमेघ', मिश्रजी, धूमिका, पृष्ठ १३।

२. वही।

३. संसदीयारायण मिश्र।

<sup>1</sup> जहाँ हिन्दू धर्म की एकता, समाज और मराठे, राजपूत और हिन्दुत्व 'प्रतिशोध', 'स्वप्न भंग',

<sup>2</sup> राम बनाम गौरी बनाम ईसाई धर्म, संस्कृति ('राम से गौरी', 'कर्म') लोचन लूरोडार, पारपुण्य ('वसिष्ठकुसुम', 'त्याग 'महत्त्व किसे?', दुष्क स्पष्ट विचारधियों की इत विपरीत और 'प्रकाश' भी प्राप्त।

'मैंने नाटकों की रचना शक्ति और दुर्बलता का के सम्मुख रखा है, ता सामाजिक एवं राजनीतिक पराधीनता के पाश में बँ

मानवीय विषयों और में खूब था, पर वहाँ ('ही का और समस्या की पटा, अपनी तरफ 'कार्य' से उद्भूत होता कई समस्याएँ होती हैं, एक निश्चित 'कार्य' से इनका कोई सम्बन्ध जुड़

मानवीय भावनाओं, परिणों के मनोवेग को सु

१. हरिकृष्ण प्रेमी।

२. सेठ श्रीविन्दराज।

३. 'कीर्ति स्तंभ', हरिकृष्ण

१ जहाँ हिन्दू धर्म की उदारता बनाम मजहबी लज्जतुष, हिन्दू मुसलमान की एकता, समाज और ईशानियत, लूट बलूट, सामुदायिकता और राष्ट्रीयता, मराठे, राजपूत और हिन्दू बनाम मुगल संस्कृति ('रजा बन्धन', 'शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न मंत्र', 'आहुति') और

२ राम बनाम गाँधी, कर्तव्य और अधिकार, ज्ञान और जाति, बुद्ध धर्म बनाम ईसाई धर्म, संस्कृति और वर्गभेद, पाश्चात्य बनाम भारतीय जीवनदृष्टि ('राम से गाँधी', 'कार्य', 'हर्म', 'केरछाह', 'जामिगुप्त') तथा समाज और शोषण लूटोद्धार, पापपुण्य, हिंसा अहिंसा सेवा और महत्त्व, व्यक्ति और दुःख ('वसिष्ठकुसुम', 'प्यास का पहलू', 'हिंसा या अहिंसा', 'तबा पापी कौन?', 'महल किसे?', 'तुख क्यों') अथवा ऐसे अनगिनत नाटकों से पाठकों, मुख्यतः विद्यार्थियों की इन विषयों पर समुचित प्रकाश मिले। उन्हें 'ज्ञान' भी हो और 'प्रकाश' भी प्राप्त हो।

'मैंने नाटकों की रचना निरवरोध नहीं की है।' प्राचीन इतिहास हमारी कल्पित और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रक्खा है, ताकि हम अपने देश के अतीत की वेदफर अस्तित्व, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा।<sup>१</sup>

मानवीय विषयों और समस्याओं पर वाद-विवाद करने का लक्ष्य 'दन्तन' में कुछ था, पर वहाँ ('बास्त हाउस', 'बोस्ट' आदि) हर नाटक में विषय एक ही था और समस्या भी एक ही सी जाती थी और नाटक का साधन वार्थवादी रीति, अपनी तमाम 'बातों' 'वाक-विचारों', 'तर्कों' के मानसिक का रंगमंचीय 'कार्य' से उद्भूत होता था। यहाँ इन नाटकों में—प्रत्येक नाटक में कई विषय, कई समस्याएँ होती हैं, और प्राथम्यतः इसका धारा रंगमंचीय विधान न किसी एक निश्चित 'कार्य' से उद्भूत होता है, न किसी नाटकीय चरम परिणति से इसका कोई सम्बन्ध जुड़ता है।

मानवीय माननाओं, क्रियाओं प्रतिक्रियाओं पर व्याख्या, टीका टिप्पणी, चरित्रों के मनोवेग को सूचित परिभाषित करने की परम्परा संस्कृत नाट्य से

१. हरिकृष्ण प्रेमी।
२. सेठ गोविन्ददास।
३. 'कीर्ति स्तंभ', हरिकृष्ण प्रेमी, भूमिका, पृष्ठ ७।

वहाँ हिन्दू धर्म की उदारता बनाम मजहबी तअसमुब, हिन्दू मुख्यमान की एकता, समाज और संतानियत, पूज धरुत, सांप्रदायिकता और रान्द्रीयता, मरते, राअभूत और हिंदुत्व बनाम सुगल संस्कृति ('रक्षा बन्धन', 'शिवावाचना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न भंग', 'आहुति') और

राम बनाम गौरी, कर्तव्य और अधिकार, ज्ञान और धार्मि, बुद्ध धर्म बनाम ईशार्थ धर्म, संस्कृति और बर्गभेद, पाश्चात्य बनाम भारतीय जीवनदृष्टि ('राम से गौरी', 'कर्ण', 'हर्म', 'केरलाह', 'अशिशुष') तथा समाज और जीवन कृतोद्धार, पापपुण्य, हिंसा अहिंसा सेवा और महत्व, व्यक्ति और दुःख ('बलिचक्रमुष', 'त्याग का पहलू', 'हिंसा का अहिंसा', 'बका पापी कौन?', 'महत्व किसे?', 'दूख क्यों') धार्मि ऐसे अनगिनत नाटकों से पाठकों, मुख्यतः विद्यार्थियों को इन विषयों पर समुचित प्रकाश मिले। उन्हें 'ज्ञान' भी हो और 'प्रकाश' भी प्राप्त हो।

'मैंने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है।' प्राचीन इतिहास हमारी अक्षि और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रक्खा है, ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर अन्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करे, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बांधा।<sup>१</sup>

मानवीय विषयों और समस्याओं पर वाद-विवाद करने का कल्प 'इश्तन' में सूत्र था, पर वहाँ ('बास्ता हाउस', 'बोस्ट' आदि) हर नाटक में विषय एक ही था और समस्या भी एक ही ली जाती थी और नाटक का साध सकार्यवादी दर्शन, अपनी समस्या 'बातों' 'बात विचारों', 'तर्कों' के साथ हूद का रंगसंघीय 'कार्य' से उद्भूत होता था। वहाँ इन नाटकों में—प्रत्येक नाटक में कई विषय, कई समस्याएँ होती हैं, और प्रत्यक्षतः इसका उद्देश्य रंगसंघीय विधान न किसी एक निश्चित 'कार्य' से उद्भूत होता है, न किसी नाटकीय चरम परिस्थिति से इसका कोई सम्बन्ध जुड़ता है।

मानवीय भावनाओं, क्रियाओं प्रतिक्रियाओं पर ध्यायना, टीका टिप्पणी, चरित्रों के मनोवेग को सूचित परिभाषित करने की परम्परा संस्कृत नाट्य से

१. हरिकृष्ण प्रेमो।
२. सेठ गोविन्ददास।
३. 'कीर्ति स्तंभ,' हरिकृष्ण प्रेमो, भूमिका, पृष्ठ ७।

लेकर सेक्सवियर, पारसी चिप्टर और 'प्रताप' तक हमें मिलती है। पर वहाँ वह विशिष्ट स्वरुप उसके रंगमंच प्रकार और अभिनय शैली के भीतर से आता है। वही सारे रंगमंच की प्रकृति ही ऐसी है।

पर वही रंगमंच की प्रकृति और उसकी रंग शैली परस्पर विरोधी शक्तियों के सामंजस्य तथा गठबंध के कारण और मूलतः इसमें जाँचित रंगमंचजोष की विहीनता के कारण 'पाठ्य' स्वरुप प्रमुख हुआ। और उसमें ही संस्कृति, इतिहास जीवनादर्श जैसे भारती भरकम विषयों का भार पड़ा। फलतः वहाँ सब कुछ 'मूल रूप से 'कहा गया', 'लिखा गया', 'बताया गया', 'विचार विनिमय हुआ'—'जिना और 'रखा' नहीं गया।

पारसी चिप्टर या परिष्करी 'दुआ' के उदाहरण और प्रतिक्रिया स्वरुप और अश्लील रंगशास्त्र के फलस्वरुप भारतेन्दु और 'प्रसाद' से रंगमंच और अभिनय शैली की जो समाप्ति है प्रयत्न है, वह वहाँ सार्थक श्रुति है। वहाँ सारा इतिहास संस्कृति, जीवनादर्श, राष्ट्रीयता, व्यक्तिवाद के विचार स्तर पर है।

इन नाटककारों के नाट्यपरिष्कार करने की अपेक्षा शान्त अपेक्षा है। पारसी चिप्टर में चरित्र बोलते भी थे, और वही कार्य भी करते थे—ठीक जैसे सेक्सवियर और संस्कृत रंगमंच में चरित्र करते थे। वहाँ वस्तुतः 'कार्य', 'कथन' और कार्य संपन्न करने घण्टियों पर, उस रंगमंचप्रकृति के अनुकूल प्रस्तुत होते: या 'कथन', 'संभाषण', कल्पना जगाने, सूचना देने के उद्देश्य से और वही कार्यसंपन्न 'दृश्यत्व' के लिये होता था। अर्थात् एक ही शोध को शब्द से लेकर कार्य तक मतिमान करना, अर्थात् शक्ति उसमें मानवीय शक्ति, कार्यबोध पैदा हो।

पर वहाँ 'बोझना' प्रायः वादविवाद, सामाजिक संघर्षों के सूत्रार्थ और मान्यदर्शन के ही स्तर पर होता है। इसलिये वहाँ नाट्य संश्लेषणीयता अपेक्षाकृत 'पाठ्य' के ही स्तर पर होती है। वहाँ अनेक दृश्यों के अस्तित्व, बल्कि कुछ संपूर्ण नाटकों के अस्तित्व केवल बैठकर ही, बिना उठे, घुमे ही किया जा सकता है। इनका जैसे विश्वास था कि नाटक देखियो माध्यम जैसे बोलकर, संवादों द्वारा ही प्रस्तुत हो सकता है। जैसे रंगमंच नहीं, 'भाषा रंगमंच'।

यहाँ चरित्र—ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटकों में, अपने संघर्षों को अनुसृत भाषा, दृश्य वाक्यांशों, क्षात्रवर्षिक संघर्षों, तीव्र वादविवादों द्वारा ही प्रकट करते हैं। जैसे प्रायः चरित्र



एकर और 'प्रसाद' तक हमें मिलती है। पर यहाँ रंगमंच प्रकार और अभिनय शैली के मोतार से जगता गति ही ऐसी है।

ति और उसकी रंग शैली परस्पर विरोधी शैलियों परस्पर और मूलतः इतमें जीवित रंगमंचशैली की 'व्यव प्रमुख हुआ। और उसमें भी संस्कृति, शैली सरकत विषयों का धार पड़ा। फलतः यहाँ 'बना', 'जिखा गया', 'बताया गया', 'विचार 'रचा' नहीं गया।

शैली 'ड्रामा' के दबाव और प्रतिक्रिया स्वरूप और 'भारतेन्दु और 'प्रसाद' में रंगमंच और अभिनय शैली है, यह यहाँ सर्वथा स्पष्ट है। यहाँ सारा रंगमंच, राष्ट्रीयता, व्यक्तिस्वातंत्र्य के विचार स्तर

व्यवहारिक कर्म करने की अपेक्षा बोलते ज्यादा बोलते भी थे, और कहीं कार्य भी करते थे — संस्कृत रंगमंच में परिवर्तित करते थे। यहाँ वस्तुतः संसारन दो धरातलों पर, उस रंगमंचप्रकृति के 'कथन', 'संभारण', कल्पना जगती, सूचना कार्यसंभारन 'दृश्यत्व' के लिये होता था। अर्थात् कर कार्य तक गतिमान करता, अचित देवना, संशोध पैदा हो।

साहित्यिक, मानसिक संघर्षों के सूचनार्थ और होता है। इसलिये यहाँ नाट्य संश्लेषणीयता पर होती है। यहाँ अनेक दृश्यों के अभिनय, अभिनय केवल बैठकर ही, बिना उठे, घुमे ही थे विश्वास था कि नाटक देखियो माध्यम ही प्रस्तुत हो सकता है। जैसे रंगमंच नहीं,

पौराणिक और सामाजिक सभी प्रकार अनुकूल भाषा, वर्य व्यक्तियों, आश्चर्यजनक भाषा ही प्रकट करते हैं। जैसे प्रायः चरित्र

पाठककी व्यावाचीय और पूरी (पर्फेक्ट) के सामने, विचारों के विविध कठोरों में खड़े हो बकीय की तरह परस्पर बहस कर रहे हों और विचारों, स्थापनाओं के लिये गचीरें, गनाहिर्ना, 'उचितार्थ', उद्धरण आदि पेश कर रहे हों। इसी का एक फल यह भी है कि इन सभी नाटकों में एक से एक सूचितार्थ, भावनात्मक, सूचनार्थ और महाभाव्य धरे पड़े हैं। इसे निरन्ध ही 'बुद्धि' और 'भावना' प्रयोग का पता ही कहा जा सकता है।

'भाषा रंगमंच' के कारण इन नाटकों में शिष्य 'प्रस्ताव कीसित' प्रकथ की भूमि सूच स्पष्ट होकर सामने आती है।

'प्रसाद' यहाँ पारसी सिप्टर की प्रतिक्रिया और अपनी आस्थावना भारत के इतिहास की वास्तविकता पर बल दे रहे थे, और इससे उस पूरे कांस की सांस्कृतिक स्थिति नाटक में झलक आती थी—ठीक इससे जागे जब नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक न होकर विबुद्ध 'सांस्कृतिक' होने लगे; अपने कथ्य और उद्देश्य इन दोनों धरातलों से।

हर नाटक एक पूर्व निश्चित, निर्धारित प्रस्ताव, ध्येयित या प्रकथ मूल्य पर आधारित हुआ।

'...धर्म के कल्याण के लिये कभी कभी ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो देखने में अधर्म प्रतीत होते हैं।'—(अशोक, मिश्रजी)

'नारव (भारतीय संस्कृति की) आत्मा है, आप बुद्धि और नर करीर हैं।' (नारव की बोणा—मिश्रजी)

'राजस का मंदिर सिद्धने के बाद मुझे यह नाटक 'मुक्ति का रहस्य' सिखाना अधिवार्थ ही उठा। कुछ छो इसलिये कि उस नाटक में जीवन के विश्व परसू पर देने प्रकाश फेंका था सदाचार और परंपरा...' (श्रुमिका, 'मुक्ति का रहस्य'—मिश्रजी)

'हमारे भारतीय साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बड़ रही हैं। उन्हें मिलाने का प्रयास बहुत मोड़े से साहित्यकार कर रहे हैं। इसी सक्षम को सामने रखकर 'ऐतिहासिक नाटक' ('रजा बन्धन', 'जिवासाधना', 'पतिमोक्ष', 'स्वप्न भंग' 'साहति' आदि)

(श्रुमिका 'सिवासाधना', हरिकृष्ण 'प्रेमी')

'एक आदर्श एक से ज्यादा खीरतों से और औरत एक से ज्यादा कारमियों से एक ही बक में प्रेम नहीं कर सकती।' ('वलिभ कुटुम'—शेठजी)

'प्रेम का अर्थ यदि मैंने कुछ ही समझा, तो वह, वेद, देवैश्वर्य देना है, सेना नहीं।' (‘न्याय या प्रहस्य’—सेठजी)

'यदि वर्ण और वर्ण का महत्त्व है, तो वह तो सूक्ष्माल को महत्त्व देना हुआ। अर्जुन को यदि अपने अतीत काल का गर्व है, तो मुझे वर्तमान का एवं भविष्य का।' (‘कर्ण’—सेठजी)

कस्तुर: ये सारे नाटककार मानववादी थे। राष्ट्रीय संघाम और पुनरुत्थान की भावना से बहुत नजदीक से जुड़े थे। अतएव इनमें हर विन्दु पर आदर्श और पथार्थ, परम्परा और बिरोध, पुराना और नया के बीच इनके निश्चित विपदाय, भावनाएँ तथा विचार थे। उन्हीं को ये लोग नाटक में विषयवस्तु बनाते थे। उसी को अनेक सकों थीर अपावों से सिद्ध करते और खचित मंडित कर अपने एक पूर्वनिश्चित हल पर पहुँचते थे। यही कारण है कि इन सभी नाटककारों की नाट्यरचनाएँ उठन पाठन, आनन्द बुद्धि और तर्कों पर नहीं हैं अनुभूति और व्यंजना पर नहीं। 'भावश्रवण' की प्रकृति से स्पष्ट है कि ये सभी अपने एक निश्चित विचार, स्थापना, प्रबंधबोध के चारों ओर भाषासंवाद का मकड़ो जाल बुनते रहते हैं। इस गुणावध में सर्वत्र वही बुद्धि, भावना और तर्कों के फंसे मिलेगे।

तभी यहाँ हर नाटक का आरम्भ एक विचार, एक प्रस्ताव, एक समस्या का 'आरम्भ' है और बीच का सारा भाग उस समस्या पर विचार-विनिमय, वास्तवप्रतिपाद का 'सञ्चयान' है, और अंत उस विचार, प्रस्ताव और उस समस्या की समाप्ति, हल या उपसंहार का है। यहाँ नाटक की समस्या 'इन्त्यन', 'मेक्सपियर', 'प्रस्ताव' की तरह अपने पूर्व पर नहीं टिकी होती, न नव सविध के लिये छोड़ ही भी जाती है, वरन् प्रस्ताव, प्रबंधबोध के अनुरूप हर नाटक के साथ समझा शुरू होता है और उनमें अंत में वह समस्या समाप्त हो जाती है। मिथजी और 'प्रेमो' इसमें अत्यंत कुशल हैं। सेठजी आदि और अंत के चारों में उतने निश्चित और स्पष्ट नहीं हैं, इसके लिये इन्होंने अपने नाटकों में 'उपसंहार' का सहारा लिया है; ताकि एक शिक्षक, नेता, सुधारक, बुद्धिजीवी के चित्रक कर प्रभाव पैदा हो, और समस्या कही से भी शेष न रह जाय।

मिथजी में यदि नाटक में वीरसेन का 'का मन्विर' में मुनीश्वर होते हैं।

इन नाट्य संरचना हैं। इस प्रसंग में सारा विद्यालय दुनिया समीप आ गया है।

कथा और चरित्र अंत, बल्कि उपसंहार और भावुकतापूर्ण काव्य

इस तथ्य की पहचान होती है। चाहे साहित्य अकादमी द्वारा विद्यालय को ध्यान में रख कर

को ध्यान में रख कर

'सृष्टि का रहस्य'

'संस्कृत किंवदंती' दु

समय छोटा सा जगोचर हुए कंकड़ और घास।

का क्या कहना, पीछों की हास्य। बंगले की ऐसी हास्य इस बंगले

'सांझ ही रती कमरों के दरवाजों और है। गर्मों का दिन है है।'

यह दृश्यविधान नि जैसे कथा साहित्य में

संभव

ही समझा, तो बड़, देव, देवेस देना है,  
(‘न्याय या यज्ञ’—लेठकी)  
है, तो वह तो मृतकाल की महत्व देना  
काल का गर्व है, तो मुझे वर्तमान का  
(‘कर्ण’—लेठकी)

मानववादी थे। राष्ट्रीय संघर्ष और  
बौद्ध से जुड़े थे। अतएव इनमें हर हिन्दु  
और विद्रोह, पुराना और नया के बीच  
तथा विचार थे। जहाँ को वे लोग  
की को बनेक तकों और उपायों से सिद्ध  
क पूर्वनिश्चित हल पर पहुँचते थे। यही  
रों की नाट्यरचनाएँ पठन पाठन, ज्ञान  
वि और ध्वजना पर नहीं। ‘भःपात्रयोग’  
की अपने एक निश्चित विचार, रचना, प्र  
न का यकसी जाल बुनते रहते हैं। इस  
और तर्क के फंसे मिलेंगे।

रम्य एक विचार, एक प्रस्ताव, एक  
का द्वारा भाग उस समस्या पर विचार-  
‘व’ है, और अतः एक विचार, प्रस्ताव  
त या उपसंहार कर है। यहाँ नाटक की  
ई की तरह अपने पूर्व पर यही टिकी  
ही जाती है, बरु प्रस्ताव, प्रबंधबोध  
हुक होता है और उनके अंत में वह  
ही और ‘प्रेमी’ इसने अत्यंत कुशल  
में उतने निश्चित और स्पष्ट नहीं है,  
‘उपसंहार’ का सहाय लिया है; ताकि  
की के चिंतन का प्रभाव देना हो, और

निश्चयी में यदि वह नहीं श्रेय रहने लगती है तो वह ‘वशातःप्रेष’  
नाटक में वीरसेन द्वारा विश्वनासिनी का मन्दिर बमबा रोते हैं, ‘राजस  
का मन्दिर’ में मुनीश्वर (राजास) द्वारा मातृमन्दिर—विद्यवा आश्रम बुझवा  
देते हैं।

इन नाट्य तंत्रों का अंततोगत्वा प्रभाव इनके नाट्यविज्ञान पर पड़ा  
है। इस प्रयोग में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व यह है कि यहाँ नाटक का  
सारा विधान दृष्टिगोचरी तौर पर नाटक की अपेक्षा कथात्मक रंगविज्ञान के  
समीप था गया है।

कथा और परिचयविधान में यह इतिवृत्तात्मकता भादि, मध्य और  
अंत, बल्कि उपसंहार तक फैली हुई है, और नाटकीय गति में यह कथात्मक  
और भावुकतापूर्ण कार्यों की परिस्थिति में।

इस तन्त्र की पहचान इस नाटकों के अकविज्ञान और दृश्ययोजना से  
होती है। चाहे सांस्कृतिक ऐतिहासिक नाटक हों, चाहे सामाजिक, अंक  
अथवा दृश्यविज्ञान बिल्कुल कथासाहित्य सा (पात्र) होता है। कुछ पाठक  
को ध्यान में रख कर दृश्य यहाँ लिखे गये हैं, वर्णित एवं कथित हैं—रंगमंच  
को ध्यान में रख कर नहीं।

‘सुक्ति का रहस्य’ नामक नाटक का पहला अंक और दृश्य:

‘सड़क किनारे दुर्गमिणा बंगला। बगले थे सड़क तक बोधी सी कमीन।  
उसमें छोटा सा बगीचा। सड़क से बगले तक पथनी सड़क। उस पर उभड़े  
हुए कंकड़ और घास। बंगले की सड़क के दोनों ओर फूलों के बोधे। फूलों  
का क्या बहना, पौधों की पत्तियाँ भी सूख रहते हैं।... यहाँ तक तो बंगले  
की हासत। बंगले की ओर देखने से यों तो बंगले की सजावट अच्छी है...  
ऐसी हासत इस बंगले की है।’

‘साँझ हो रही है। इधर ही सूरज की किरण बंगले के ऊपर वाले  
कमरों के दरवाजों और खिड़कियों के कोशे पर पड़कर लटक पैदा कर रही  
है। गर्मी का दिन है इसलिये बाह्य होने पर भी अर्धों गर्मी कम नहीं हुई  
है।’

यह दृश्यविज्ञान निरूपण ही पाठक की कल्पना बगले के लिये है—जैसा  
जैसे कथा साहित्य में होता है। वस, कास, परिस्फोटि—सब कुछ वर्णित

वर्षित। क्योंकि ये तत्त्व नाटक के जीवन में धर्मनिष्ठ नहीं होने को है। इसके उपरांत जब इनमें चरित्र की व्यवहारणा होती है, तो उसी के अनुसार चरित्र के बारे में उसकी पात्रता भी नाटक को बता भी जाती है।

‘(इस व्यक्ति का नाम उमार्गकर खर्मा है। बर्माजी ने १८२१ में लखे नंबरो के साथ एम० ए० पास किया था। डिप्टी कलेक्टरों में जापका नामलेखन भी हो गया था। लेकिन खाने अन्नबोग की लहर में इस्तीफा दे दिया और वो बर्ब के लिये बेल गए।)’ (‘मुक्ति का रहस्य’, पृष्ठ ३४)

‘...इत्बावि बहुत सी चीजों से यह पता चलता है कि बाब्टर साहब उस गीढ़ी के उन विकृतहृदय और विकृतमस्तिष्क युवकों में हैं, जिन्होंने कि साहब बनने के लोके में संस्कार, चरित्रबल या ऐसी बातें जो मनुष्य को मनुष्य के ऊपर उठाए रहती है, छोड़ दिया है, जो प्रवृत्तियों के गुलाम हैं। सरांस यह कि बाब्टर साहब इस गीढ़ी के उन लोगों में हैं, जिनके भीतर भारतीय पतन की चरम वस्था देख पड़ती है।)’

(‘मुक्ति का रहस्य’, पृष्ठ ४१)

नाटक में चरित्र जब अभिनेता के माध्यम से मंच पर प्रीकृत किया करने के उद्देश्य से निर्मित होता है, तब उसमें उसकी सारी चरित्रगत विशेषताएँ, वृत्तियाँ उसके भीतर छिपी रहती हैं, जो मंच पर वर्तक के सामने उसके कर्मी व्यवहारों जब से एक-एक कर स्वतः प्रकट होने को होती हैं और दर्शक को उस नाटकीय चरित्र का हृदय तरह तब पूर्ण आत्मबोध होता है। पर इस सत्य के विपरीत बहुत चरित्र की सारी पात्रता बचायी जाती है। इससे आगे वह क्या विचार-विमिश्रित करता है, कार्य करता है—नाटक उसे पढ़ सके।

इस ‘पाठ्यता’ का प्रभाव भाषाप्रयोग और संवादविधान पर उत्प्रेक्षनीय रंग से पढ़ा है।

संवाद में अभिनेता का बोध न होकर केवल एक ऐसे चरित्र का बोध है जो एक विचार, प्रस्ताव अथवा जीवन पक्ष का दर्शाता है, व्यक्तपथा है, अव्येता और प्रवृत्ता। फलतः भाषा बोली सर्वत्र एक समान है। उसमें बुद्धि का इतना व्यापक है कि मिथ्या के प्रायः सभी चरित्र बोलते बोलते सोचने लगते हैं और सोचते सोचते बोलने लगते हैं। तभी सारा संवादविधान ‘बाब्टर’ के भरा हुआ है :

‘आशादेवी : जमा कीजिएगा.....मैंने समझा थापद आपने मेरी बात नहीं सुनी और कले गए।.....’

उमार्गकर :

आशादेवी :

उमार्गकर :

आशादेवी :

‘बाब्टर’ से यह

चरित्रों में, सब तर

ऐसा भी लगता है।

की प्रतिक्रिया में।

दीली में संवाद में

लिए बातें एक एक

विस्तार है।

शेठ गोविंदवास

की वह इतिवृत्तात्म

नाम पर नहीं देस

चूंकि यहाँ नाटक के

भीतर धर्मनिष्ठ न।

कुछ भी कहने, सब

है। चरित्र के बारे

घरातलों से वह वि

चरित्र स्वयं स

चरित्रों में परस

एक की भी सु

नाटककार स्व

परिचय देने के

नाट्यविधान क

है।

जीवन में धर्मनिष्ठ नहीं होने को है।  
आपका होती है, तो उसी के अनुकूल  
को बता दी जाती है।

सार्मा है। सार्माजी ने १९२१ में लखनऊ  
आया। डिप्टी कमिश्नरी में आपका  
आपने असहयोग की लहर में इस्तीफा  
(‘मुक्ति का रहस्य’, पृष्ठ ३४)

यह पता चलता है कि डाक्टर साहब  
असहयोग युवकों में हैं, जिनमें कि  
किसी या ऐसी बातें जो समुदाय को  
दिया है, जो प्रवृत्तियों के गुणम है।  
की के उन लोगों में हैं, जिनके मोठर  
(१।)

(‘मुक्ति का रहस्य’, पृष्ठ ५१)  
के माध्यम से मंच पर जीवित आका  
सब उसमें उसकी सारी परिश्रम  
रहती हैं, जो मंच पर वर्णक के  
एक-एक कर स्वतः प्रकट होने को  
का इस तरह तक पूर्ण आत्मबोध  
मैं चरित्र की सारी शक्ति बतानी  
बेनियम करता है, कार्य करता है—

और संवादविधान पर संश्लेषणीय

केवल एक ऐसे चरित्र का बोध है जो  
बलिय है, व्याख्याता है, अस्पष्टता  
के समान है। उसमें बुद्धि का इतना  
बोलते बोलते सोचने लगते हैं और  
संवादविधान ‘वाद्द’ के भरा हुआ

समस्या थायद आपने मेरी बात  
.....

उत्साहकर : कुछ कहना है...आपको ?

आशादेवी : जी नहीं...यों ही...हूँ...आप सोचेंगे क्या ? किस काम  
से...

उत्साहकर : ठीक नहीं कह सकता। चुनाव है। देखूँ लोगों की मनोकृति  
क्या है ? आप भी कहीं जाना चाहेंगी...

आशादेवी : सिनेमा...लेकिन नहीं...काम्य आप देखें...

(‘मुक्ति का रहस्य’, पृष्ठ ३४-३५)

‘वाद्द’ से यह संवाद-भरण इनके सब तरह के नाटकों में, सब तरह के  
चरित्रों में, सब तरह के देश, काल, परिस्थितियों में समान रूप से मिलता है।  
ऐसा भी समझा है कि ‘वाद्द’ अभिनय बोध की प्रतिक्रिया में हुआ है या स्वयं  
की प्रतिक्रिया में। यहाँ यह संश्लेषणीय है कि पारसी पिण्डर का अभिनय  
देखी में संवाद में भावनात्मक उतार चढ़ाव और चमक दमक पैदा करने के  
लिए बातें एक-एक कर बोली जाती थीं। ये ‘वाद्द’ उसी रीत, विराम की भाव  
दिखाते हैं।

शेठ श्रीविद्यादास और हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में कथा और चरित्रविधान  
की यह इतिवृत्तात्मकता, कथात्मकता सर्वत्र समान है। और हर्यदिधान के  
नाम पर नही देश काल परिस्थिति का कथारमक वर्णन, चित्रण और कथन।  
चूंकि यहाँ नाटक में जीवनगत भाषावरण, देशकाल परिस्थितिगत चेतना उसके  
भीतर धर्मनिष्ठ न होकर उसके वाहुर से जोड़ा गया है, अतएव इन नाटकों में  
कुछ भी कहने, सजाने और जूर स्तर से उन्हें अलंकृत करने की अनाद्य स्वतंत्रता  
है। चरित्र के बारे में जो नदृश्यापार से संवेचित नहीं हो सका, उसे इन सर्वा-  
धरातलों से बहू किया गया :

चरित्र स्वयं उस भाव बोध को कह देता है।

चरित्रों में परस्पर इतनी प्रासंगिक अप्रासंगिक बातें होती हैं कि पाठक  
तक को भी कुछ सोचने समझने की जरूरत नहीं रह जाती।

नाटककार स्वयं रूपायोजना, पात्र के प्रवेश, प्रस्थान तथा उसके बारे में  
परिचय देने के बहूने सब कुछ सूचित परिभाषित कर देता है।

नाट्यविधान की स्वतंत्रता भी इन सभी विदुओं पर समान रूप से चलती  
है।

चूँकि हर नाटक चाहे वह सामाजिक हो या ऐतिहासिक, अपनी रचना-प्रक्रिया के कारण ही बहु सांस्कृतिक और पूरे काल से संबंधित हो जाता है, इसलिये उसमें कथा, चरित्र और विषय इन दृष्टियों से एक अथवा उरह की अराजकता, बहुदेस्योन्मत्ता, घटनाप्रधानता पर जाती है।

इसमें नाटकीय व्यक्तित्व की कोई परवाह नहीं रहती, इसलिये, हर नाटक में हलका भर किसी के बारे में कुछ भी कहा जा सकता है।

नाटकीय कार्य और प्रभाव एकता की उपेक्षा से इसमें संवार, अनुक्रम सभी एक में से एक निकलते रहते हैं, और कभी बिना किसी पूर्वापर ध्यान दिए सहसा पैदा कर लिए जाते हैं।

चरित्रों को बर्णन (कथात्मक प्रकृति के कारण) अवैत प्रस्तान कराने के लिये यहाँ पूरी आजादी है।

पारसी थिएटर में हयवविधान कथा, चरित्र, तथा संघर्ष के विकास के अनुक्रम इस तरह सोचा जाता था कि जब तक एक हयव ही रहता है, तब तक उसके पीछे का दृश्य तैयार हो रहा है, इसी के अनुसार और पीछे और पीछे... अंक की समाप्ति तक यहाँ 'ड्राप' गिरता है, यहाँ तक कथा और चरित्र का जैसे एक के बाद एक का 'पर्व' खुलता चलता है और एक अंक की परमतीमा पर आकर बहु 'ड्राप' में पुनः स्थिर जाता है, आगे और खुलने के लिये उन्हें हयव-योजना पर बेहद ध्यान देना पड़ता था। कहीं दर्शकों को गाँवा देना है, कहीं दृश्य और कहीं युद्ध और कहीं सौकी, इसे ध्यान में रखकर वे नाटक का रूपबंध तैयार करते थे। और इसी के उद्देश्य से उन्हें कभी कभी कथा और चरित्र दोनों को अनावश्यक मोड़ देना पड़ता था।

विश्व, प्रेमी, सेठ—इन सभी ने भी ऐसा 'अनावश्यक' मोड़ दिया है पर यहाँ ध्यावहारिक रंगमंच की विवशता के कारण नहीं, रंग और वर्णन के संबंध-सूत्र से उत्पन्न सोमाबंधन के कारण नहीं, एक ही नाटक में 'सांस्कृतिक बोध', 'नाटक समाज का वर्णन है'—इसके नाम पर सब कुछ भरतुत कर देने की लालसा के कारण समस्या का कोई पत्र, कोई पत्र, कोई भी बात छुटी न रह जाय, इसके लिये चाहे जितने अनुक्रम, कथाया, प्रसंग ('सिद्धर की खोली') जोड़ने पड़ें, यकीन नाटककार को बहु पूरा करना ही है, नहीं तो पूरी (दर्शक) और न्यायाधीन (आलोचक) से अपना 'किस' कैसे जीता जा सकेगा ?

'सांस्कृतिक बोध' के लिये नाटककार को पूरा अधिकार है कि वह कथा,

चरित्र, घटना तथा प्रसंग क  
यही तो उसकी सांस्कृतिक

विश्व, प्रेमी, सेठजी का  
नाट्य की प्रतिक्रिया तथा प्र  
और पद्यार्थवादी रंगशैलियों  
सूत्रन केवल दो पात्र घरात

भावना और विचार

कीदिकता

मिथजी का नाट्य, अपे  
कथात्मक सुख छिया है, सु  
यह संसार उठना ही बड़ा  
बुद्धि से अपने बाहर भीतर  
स्थापित करता है।

सेठजी और 'प्रेमी' का  
दुनियाँ में से पैदा हुआ है।  
'विचार' की पुस्तकों में से

इस नाटक की विवशने  
(१) कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इ  
इंडियन पीपुल एंड दि एथ  
संबंधकर कृत यमोक, (१  
एनशेंट इंडिया'।' भा  
जो नाटक के रूप में लिखे

'अस्तुत नाटक की  
न ही कोई पात्र काल्पनिक  
प्रेमी का नाट्य सेठ  
नाट्य पर जल्लेखनीय भा

१. यमोक—सेठजी, धूमि

क हो का ऐतिहासिक, अपनी रचना-  
क और पूरे काल से संबंधित हो जाता  
रिच और विषय इन दृष्टियों से एक  
हृदयबोधिता, घटनाप्रधानता बन जाती

परवाह नहीं रहती, इसलिये, हर नाटक  
उ भी कहा जा सकता है।

की अपेक्षा से इसमें संवाद, अनुक्रम  
है, और कभी बिना किसी पूर्वपर ध्यान

के कारण) प्रवेश प्रस्थान करने के

ग, परिचय, तथा संघर्ष के विकास के  
तक एक दृश्य हो रहा है, तब तक  
की अनुसार और पीछे और पीछे...

है, वहाँ तक कथा और चरित्र का जैसे  
है और एक अंक की 'अन्तर्लोक' पर  
आगे और छुलने के लिये उन्हें दृश्य-  
कहाँ वर्णक को माना देना है, कहीं  
ध्यान में रखकर वे नाटक का रूपबंध  
उन्हें कभी कभी कथा और चरित्र

ऐसा 'अनावश्यक' मोड़ दिया है पर  
आरंभ नहीं, रंग और दर्शन के संबंध-  
एक ही नाटक में 'सांस्कृतिक बोध',  
पर सब कुछ प्रस्तुत कर देने की  
कोई पहलू, कोई भी बात छुटो न रह  
कथा, प्रसंग ('सिद्ध' को होनी')  
करना ही है, नहीं तो सूरी (वर्णक)  
ह' कैसे बोला जा सकेगा ?

को पूरा अधिकार है कि वह कथा,

चरित्र, घटना तथा प्रसंग को जैसा, जो कुछ भी मोड़ देना चाहे, दे सकता है।  
यही ही उसकी सांस्कृतिक स्वतन्त्रता है।

निम्न, प्रेमी, सेठजी का रंगमंच संसार, पारसी पिप्टर तथा 'प्रसाद' को  
नाटक की प्रतिक्रिया तथा प्रभाव के भीतर से पैदा हुआ है। इसमें अद्ययार्थवादी  
और पद्यार्थवादी रचनाधर्मों के परस्पर विरोधी तत्व मौजूब हैं। यह सारा नाट्य  
सृजन केवल दो भाव धाराओं से हुआ है :

मानना और विचार

बीडिकता

निम्नजी का नाट्य, अपेक्षाकृत 'बुद्धि' से पैदा हुआ है, इसलिये इसमें एक ओर  
कमालक सुख छिपा है, दूसरे यह बुद्धि और तर्क की संतोष देने वाला है।  
यह संसार उसका ही बना और सीमित भी है, जहाँ तक कि नाटककार, अपनी  
बुद्धि से अपने बाहर भीतर के संसार और यहाँ की वस्तुओं से परस्पर संबंध  
स्थापित करता है।

सेठजी और 'प्रेमी' का 'नाट्य' अपेक्षाकृत 'भावना' और 'विचार' की  
दुनियाँ में से पैदा हुआ है। सेठजी के सारे ऐतिहासिक उपन्यास 'इतिहास' और  
'विचार' की पुस्तकों में से उभरे हैं :

इस नाटक की निम्नलिखित सन्धियों में सहायता मिली है—  
(१) कैप्टिव हिन्दी भाग इंडिया, प्रथम भाग, (२) दि हिन्दी एन्ड कल्चर आफ  
इंडियन पीपुल एंड दि एज आफ इंडीरियल यूनिटी, दूसरा भाग, (३) हाक्टर  
संसारकृत अक्षोक, (४) बाँवटेर राधाकुमुद कृत—'मैन एंड थाट इन  
एनग्लो इंडिया'। आदि आदि। दरअसल ये एक तरह से इतिहास ग्रंथ है,  
जो नाटक के रूप में लिखे गए हैं—

'प्रस्तुत नाटक की रचना अक्षोक की जीवनी पर की गई है। इसका  
न ही कोई भाग काल्पनिक है और न कोई घटना।'

प्रेमी का नाट्य सेठजी की अपेक्षा नाटक की प्रकृति के करीब है। इनमें  
नाट्य पर अन्तःसंनय व्यापक है साथ ही अपने रूप की प्रायागिकता पर।

१. अक्षोक—सेठजी, प्रेमिता से।

५० / आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच

पारसी मिश्टर और नाटक के समानांतर इस पूरे काल की साहित्यिक नाट्य-धारा (?) की सीमार्प रंगमंच के सीमित क्षेत्र की सीमार्प हैं। प्रत्यक्ष जीवन से कटकर जैसे मनुष्य भावना, संकल्पना और बुद्धि की दुनिया में जाकर रहने की अभिसम्पत् होता है, ठीक उसी प्रकार रंगमंच से कटकर नाटक को 'नाटक' में घटकने को विवश होता है।

किन्तु दूसरी ओर यह भी उल्लेखनीय है कि इन नाटककारों ने जिस आस्था और तीव्रता से जीवन का :

व्यार्थ पक्ष (मिथजी)

राष्ट्रीय पक्ष (प्रेमी)

सांस्कृतिक पक्ष (सेठजी)

अपने नाट्य साहित्य में उभारा है वह नाट्यसृजन की व्यापक भूमि है। इस तरह भूमि की तलाश और उसका नाट्य उपयोग अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रसाद, मिथ, प्रेमी और सेठजी ने किया। मिथजी में सारी समस्याओं के प्रति ऐसी स्पष्टता और तीव्रता है कि जो बरअसल सोचने को मजबूर करता है।

चेतना के स्तर पर स्वभावतः यह पूरा काल राष्ट्रीय चेतना का काल है। इस चेतना के विविध पक्षों को नाटक का विषय बनाना, इस काल की प्रमुख विशेषता है। मिथजी ने इसी के परिदृश्य में सामाजिक समस्याओं को पीछे बुद्धिवादी ढंग से देखा है और राष्ट्रीय बोध को मानवीय एवं सामाजिक अर्थ दिया है।

इस काल में कुल्लेक और नाटकों के नाम उल्लेखनीय हैं :

जामशप्रसाद खन्नी का 'गोतमकुल' (१९२२)

साधनसास चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' (१९१८)

जमनादास मेहरा का 'मोरछत्र' (१९१६)

विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कीर्तिक' का 'श्रीराम' (१९१८)

शैचिलीभरण गुप्त का 'जनक' (१९२५)

सुवर्मान का 'अज्ञान' (१९२२)

गोविन्दचरण पंत का 'बरमाला' (१९२५), 'राजमुकुट' (१९१५)

बेचन शर्मा 'जय' या 'महात्मा ईश' (१९११)

प्रेमचंद का 'कर्बाना' (१९२४)

आत्मज्ञ प्रसाद  
उदयशेखर मधु

शंभुगुप्त विद्यालंकार  
केदारनाथ सटल  
'अरक' का 'अस  
परिपूर्णादिद इर्मा

ये सारे नाटक  
विषयबस्तु के आधार  
नाटकों की भी है,  
सामाजिक समस्याओं  
प्रवृत्ति को स्पष्ट स्वर

जब प्रश्न है,  
नवविभाषित तर्क का  
वस्तुतः जीवन का  
संश्लेषित करने का क

पर जितना कर्  
पूरे काल में हुए हैं,  
समस्याओं तथा विवे  
इस काल का दृष्टिको

हरकचल यह  
नेतृत्व गांधीजी का  
मानववादी रूप नि  
चेतना में पूर्ण थी—



- बनाकाच प्रसाद मिश्रित का 'प्रसाद प्रतिभा' (१९२८)  
 ब्रजधरशंकर शर्मा का 'चंद्रगुप्त मौर्य' (१९११)  
 'विक्रमादित्य' (१९१२)  
 'सगर विजय' (१९३७)  
 'मत्स्यवंशा' (१९३७)  
 चंद्रगुप्त विद्याभंकार का 'अणोक' (१९३५)  
 केदारनाथ भटनगर का 'कुशाव' (१९३७)  
 'ब्रह्म' का 'जय पराजय' (१९३७)  
 परिपूर्णसिंह वर्मा का 'रानी बबानी' (१९२८)

ये सारे नाटक स्वदेशीय, राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय एकता के ही स्वरूपरूपों के आधार पर लिखे गये हैं। इससे भी बड़ी तासिका सामाजिक नाटकों की भी है, जहाँ इस काम के अनेक लेखकों ने (नाटककारों ने) सामाजिक समस्याओं पर सीधी सीध की है और उसमें समाजसुधार वाली प्रवृत्ति को स्पष्ट स्वर दिया है।

अब प्रश्न है, इस काम में इतना धारा नाट्यलेखन क्यों कर हुआ ? बहुविधापित तर्क तो लगते हैं कि यह राष्ट्रीय चेतना और आंदोलन का अत्यंत प्रोत्साहित काम है और नाटक इस 'चितना' और 'आंदोलन' को प्रेरित करने का अत्यन्त प्रभावपूर्ण माध्यम।

पर चितना अधिक नाट्यलेखन और लोकता रंग से नाट्यप्रदर्शन इस पुरे काल में हुए हैं, उसके अनुमान से इतना तर्क काफी नहीं लगता। क्योंकि समस्याओं तथा विशेषकर 'नारी', 'पुरुष' के व्यक्तित्व तथा संबंधों के प्रति इस काल का दृष्टिकोण सर्वथा बदला हुआ है।

इसअसल यह पूरा काल, राष्ट्रीय आंदोलन का वह काल है, जिसका नेतृत्व गाँधीजी कर रहे थे। उन्हीं ने स्वराज्य आंदोलन की सर्वथा एक मानववादी रूप दिया। इसी के भीतर से दो नई वृत्तियाँ राष्ट्रीय चेतना में फूटी थीं—पहली व्यापक सुधारवाद को, दूसरी सामाजिक, नैतिक

क्रांति थी। यह पूरा काल उद्बोधन का काल है। समाज के हर स्तर का आदमी इसी 'सुधार' और क्रांति चेतना से अस्मिभूत था।

यही सामाजिक क्रांति-चेतना नैतिक और सुधारवादी इन दोनों स्तरों पर मिथ्याजी से लेकर इस पूरे काल के सामाजिक नाटकों में है। वही क्रांति, सुधार, उद्बोधन, जोश, भावुकता राष्ट्रीय आंदोलन स्तर पर समस्त ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों में है।

ये नाटक नमूने व्यापक स्तर पर पढ़े जाते थे। स्कूल, कालेजों, विरव-विद्यालयों में पढ़ाये जाते थे (और अब तक पढ़ाये जा रहे हैं)। उनमें इतना 'पाठ्यतत्त्व' होता सभी अनिवार्य हुआ। हरिम निर्माण के पीछे के सारे राष्ट्रीय आंदोलन के तत्त्व कार्यरत थे, तभी मात्र इतने कथात्मक और वाक्यात्मक हैं। उनमें संघर्ष व्यापक स्तर पर है तभी उनमें तीव्रता कम है और संघर्ष सरलीकृत रूप में सामने आता है। क्यादातर संघर्ष परस्पर बातों में है और चरित्रों के अपने अपने निजी पक्ष बेहद मजबूत और पूर्व निश्चित हैं। यह सारा तथ्य उस काल के मानवसमाज और व्यक्ति का सत्य है। जो व्यापक मानव नाटक उस समय पूरे भारतवर्ष के भीतर के भीतर सौधी और नेहरू ने अनुभूत किया और कहा कि भारतवर्ष परिवर्तन, क्रांति चाहता है, और इस बोध ने उन्हें देश का सौधी खड़ा करने का, ठीक उसी स्तर से इन तमाम नाटककारों ने अपने अपने ढंग से उसी 'परिवर्तन', उसी 'क्रांति' को इतनी व्यापक नाट्य अभिव्यक्ति दी— बल्कि उन्हें जैसे विवश होकर देनी पड़ी। क्योंकि इस पूरे काल का समाज, समुच्च अपनी अपनी क्षमता, सृजन और साधन से राष्ट्रीय आंदोलन को गंगा में पत्र पुष्प, तन, धन, धन डालकर स्वयं के अस्तित्व को गौरव दे रहा था। 'अशोक', 'हर्ष', 'स्कन्धशुत', 'चंद्रगुप्त', 'देवसेना', 'कर्तवकी', 'मासती', 'सायावती', 'प्रकाशचंद्र', 'अरुन्धती', 'मुनीश्वर', 'मारव', 'ईसा', 'बुद्ध', 'छिवाजी', 'प्रताप', एक ओर गौरवपूर्ण इतिहास और क्रांतिकारी समाज के पास है, दूसरी ओर वे इस काल के ऊहापोह के मानव प्रतीक, तीसरे इनके माध्यम से नाटककार अपने आप की व्यंग्यव्यक्ति दे रहा था। और उस काल में अपने आपको इतनी भावनात्मकता, सौंदर्यता से जोड़े हुए था।

दूसरी ओर इस पूरे काल में समाजांतर रूप से पारसी थिएटर अपने व्यापक-सांघिक रंगमंच के साथ जी रहा था। यह रंगमंच भी अपने अनोखे ढंग से इसी

राष्ट्रीय चेतना के भीतर से पैदा सांघिकता, गान, नाच तथा पूरे 'आगा हज', 'राधेस्वाम', 'बेठ' जैसे आकर्षक केन्द्र थे। इनमें नैतिक प्रतिस्पर्धा थी। हिन्दी उभर रहा था। आबद इसी प्रतिस्पर्धा और ऐतिहासिक नाटकों के मुखमार्ग सुर्गाय की ही बात कही जायगी पनपा, यह हिन्दी अन्तता के सिद्धि और 'व्यापकता' के क और रंगमंच दर्शन, रंगमंच का व्यवसाय और साहित्य के बीच पैदा कर दिया।

इस पूरे काल में हिन्दी नाट्य क्रिया, प्रभाव और राष्ट्रीय चेतना सांघिक नाट्यमंच तैयार हुए, उन्हाही लोग नाट्यप्रदर्शन कर शायद कभी नहीं आया, पर इस व्यापक उत्साह उमंग को सके, इसलिये यह पचास वर्षों में अंग नहीं बन पाया, जो इसी त संस्कृति का सहज, अभिन्न अंग साधनहीन संरक्षणविहीन और बल्कि अपनी दुर्भाग्यपूर्ण मूर्खता सांघिक शून्य के रूप में क्लिप्त किसी हद तक अब तक विश्वास रंगमंचों की समुचित रूप में पन

में धर्मिकतात रूप से उस कार्य-कलाप को, उस काल की चर्चा करते हुए। चतुर्विधजन जैसे आता है।

कास है। समाज के हर स्तर का अभिभूत था।

पर सुधारवादी इन दोनों स्तरों पर नैतिक नाटकों में है। वहीं क्रांति, श्रमिक जाँसूदन स्तर पर समस्त

जाते थे। स्कूल, कालेजों, विश्व-क पढ़ाये जा रहे हैं। उनमें इतना परिण निर्माण के पीछे वे खाने पात्र इतने कथामय और वाचाल भी जनमें तीव्रता कम है और संघर्ष स्तर संघर्ष परस्पर बातों में है। और मजबूत और पूर्व निश्चित है। यह

र व्यक्त का सत्य है। जो व्यापक भीतर के भीतर लौंछी और नेहरू परिवर्तन, क्रांति चाहता है, और पर, ठीक वही स्तर से इन तमाम परिवर्तन, उसी 'क्रांति' को इतनी जैसे विवश होकर वेसी पत्नी। अपनी अपनी अमता, सृजन और एक पुष्प, तन, मन, छन डालकर 'अज्ञात', 'हर्ष', 'स्फुटगुप्त', 'ती', 'मायावती', 'प्रकाशचंद्र', 'सुद्ध', 'खिवाजो', 'प्रताप', एक समाज के धान है, दूसरी और वे तीसरे इनके माध्यम से नाटककार और उस काल में अपने व्यक्तों का।

प के पारसी विष्टर अपने व्याप-व में भी अपने मनोके उंग से इसी

राष्ट्रीय चेतना के पीछर छे पैदा हुए सारी भावनाओं को अपने 'नाट्य' में पूरे सावस्यता, गान, नाच तथा पूरे रंग चमत्कार के साथ प्रस्तुत कर रहा था। 'आगा हून', 'राजेधाम', 'बेलान' के नाटक पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र के दर्शक के लिये आकर्षण केन्द्र थे। इनमें 'आगा हून' के साथ हिन्दी के लेखकों की स्वाभाविक प्रतिस्पर्धा थी। हिन्दी उर्दू के समान को भी लेकर परस्पर तनाव रहता था। साथ ही प्रतिस्पर्धा और प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक चलकर 'प्रेमी' ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के मुसलमान चरित्रों के भी उर्दू बोलचालो छुड़ा दिया। यह दुर्भाग्य की ही बात कही जायगी कि पारसी विष्टर मूलतः हिन्दीभाषी क्षेत्र में पनपा, वह हिन्दी जनता के लिये तैयार किया गया, फिर भी हिन्दी में 'अति-शुद्धि' और 'आर्यभाषना' के कारण उसे हिन्दी का, अपना नहीं स्वीकार किया और रंगमंच वर्चक, रंगमंच नाटक, विषयवस्तु और नाटक, पाठक और कर्षक, व्यवसाय और साहित्य के बीच करीब पचास वर्षों का भयानक अंतरास, मूल्य पैदा कर दिया।

इस पूरे काल में हिन्दी नाट्यलेखन के समान ही पारसी विष्टर की प्रतिक्रिया, प्रभाव और राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप अर्द्धक्य शोकिया, अव्यास-सामिक नाट्यरचन तैयार हुए, बने, मिटे और साधनहीनता के बावजूद लगातार उत्साहो जोग नाट्यप्रदर्शन करते रहे। हिन्दीभाषी क्षेत्र में इतना रंगउत्साह पायव कभी नहीं आया, पर चूंकि साहित्यिक नाटककार, समाज से नेतागण इस व्यापक उत्साह उमंग को न पहचान सके, न इससे जुड़कर इसका अंग बन सके, हमलिये यह पचास वर्षों का शोकिया रंगउत्साह हमारी जितनी का वह अंग नहीं बन पाया, जो इसी तरह से बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में इनकी संस्कृति का सहज, अभिन्न अंग बन गया। यह सारा नाट्य और रंगमंच साधनहीन संरक्षणविहीन और अतंतः निरक्षेप ही भटकर कर ही नहीं गया, बल्कि अपनी बुभुक्षित मृत्यु का अमल्लत, अपशकुन ठाम गया। यह आये एक सांस्कृतिक मृत्यु के रूप में हिन्दीभाषी क्षेत्र में प्रेत की तरह छा गया और जो किसी हृद तग अब तक विद्यमान है और हमारे आज इतने नाट्य उत्साह और रंभकर्मों को शकुचित रूप में पनपने से रोके हुए है।

मैं व्यक्तिगत रूप से इस व्यापक संरक्षणहीन शोकिया हिन्दी रंगमंचीय कार्य-कलाप को, उस काल की बहुत बड़ी उपसखि मानती हूँ, जिसकी अब मात्र चर्चा करते हुए उपविसर्जन जैसा भावबोध मेरे भीतर उभरता है और मन भर जाता है।

इस काल की प्रकृति की गहराई में जाकर यदि देखा जाय तो राष्ट्रीय चेतना के भीतर-ही-भीतर मध्यवर्गी समाज का बड़ी तेजी से विकास हो रहा था। इस काल में राजनीतिक और आर्थिक हल चो स्तरों से अंग्रेजी शासन की ओर से जो दमन और शोषण का कास्टम चल रहा था, उससे विकसित होते हुए मध्य वर्ग तथा विशेषकर बुद्धिजीवी का साग उभरना एक और राजनीतिक उथल-पुथल की ओर धसा गया, दूसरी ओर यह जीवन के प्रति एक उल्लापोद्गम चित्र खींचने लगा—कभी सुनारमय, कभी विद्रोहीमय और कभी वैयक्तिक स्वार्थमय।

उस समय तक हिन्दी क्षेत्र में इतने महानगर नहीं बन पाये थे। न ऐसा कोई व्यापारिक औद्योगिक केन्द्र ही था तब, जिसके सहारे बुद्धिजीवी मध्यवर्ग वहाँ एकत्र होता और नाटक रंगमंच जैसे सांस्कृतिक प्रयास के लिये तत्पर होता। उस समय प्रयाग में माधव शुक्ल ने प्रीक्रिया हिन्दी रंगमंच की स्थापना की, लेकिन उन्हें प्रीविकोपार्वन के लिये कलकत्ते जाना पड़ा। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं, जहाँ प्रयाग, काशी, कानपुर, मेरठ, पटना, झाँसी, नागपुर, दिल्ली आदि केन्द्रों में हिन्दी नाटक संबंधी क्रियाकलाप बड़ी तेजी से शुरू होकर सहसा एक बिन्दु पर आकर विरत गया। उल्लाही लोगों का या तो लौकरी लिये झुंझ-झुंझ साधना नहीं पड़ा, तो उन्हें किसी राजनैतिक आंदोलन ने धर दबाया। इस तरह इस काल में असंख्य प्रीक्रिया आन्दोलन बने, उनके रंगमंच कार्यक्रमलाप हुए, पर उन्हीं कारणों से, तथा हिन्दी क्षेत्र की एक विशेष सांस्कृतिक बनावट ने, रंगमंच की जड़ों को उस तरह फैलाने और अपनी जमीन पकड़ने का अवसर नहीं दिया, जैसे बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में संभव हुआ।

हिन्दी क्षेत्र का वर्गीक समाज, धुमंतू पारसो चिएटर (विशेषकर अल्फ्रेड और कोरचियन की तकल में कहीं तमाम मण्डलियों) का प्रदर्शन देखा रहा था। सीता की भूमिका अब रचियाँ निभा रही थीं। राम अब रचियों के रूप में मंच पर आने लगे। वर्गीक समाज की इससे कोई एतराज नहीं था। फिर जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना और आवादी की लड़ाई तीव्र होने लगी, जैसे नाट्य प्रदर्शनों के प्रति साहित्यिकों—बुद्धिजीवियों में उल्लाह आया। विशेषकर 'रामलीला' के अवसरों पर जगह-जगह नाट्यप्रदर्शन शुरू हुए और यह रंग-उल्लाह बड़ी तेजी से बढ़ा।

१. देखिये, शिवशुक्ल सहाय का लेख, 'माधुरी' लखनऊ, वर्ष ६, तुलसी संवत् ३०४ (१९४४ वि०)।

इस मंच में प्रयाग पहले लिखा जाना चाहिए। प्रयाग में मध्यवर्गी समाज का बड़ी तेजी से विकास हो रहा था। इस काल में राजनीतिक और आर्थिक हल चो स्तरों से अंग्रेजी शासन की ओर से जो दमन और शोषण का कास्टम चल रहा था, उससे विकसित होते हुए मध्य वर्ग तथा विशेषकर बुद्धिजीवी का साग उभरना एक और राजनीतिक उथल-पुथल की ओर धसा गया, दूसरी ओर यह जीवन के प्रति एक उल्लापोद्गम चित्र खींचने लगा—कभी सुनारमय, कभी विद्रोहीमय और कभी वैयक्तिक स्वार्थमय।

इस मण्डली के प्रति मण्डलियों नहीं। मण्डल-मण्डलियों की भूमिकाएँ करने प्रयाग से पहले 'कवि' लगे। हिन्दी साहित्य का स्तरों में हिन्दी के नाटक और से भी नाटक होने माधव शुक्ल जैसे अनेक विदा। विश्वविद्यालयों, लेने लगे। इस रंगमंच पर तथा हिन्दी प्रीक्रिया की आन्दोलनस्थानें नहीं।

कलकत्ता की 'नाट्य' कलकत्ता का 'भारते' 'काशी नाट्य मण्डली' नाटक मण्डली' काशी की 'भारते' प्रयाग का 'हिन्दी न' प्रयाग की 'रागलीला' प्रयाग में प्री० मधुर मित्र मण्डली' जबलपुर की 'नाट्य' आरा की 'मनोरंजन

इस काल की प्रकृति की गहराई में जाकर परि देखा जाय तो राष्ट्रीय चेतना के भीतर-भी-भीतर महामर्ग समाज का बड़ी तेजी से विकास हो रहा था। इस काल में राजनीतिक और आर्थिक इन दो स्तरों से अंग्रेजी शासन की ओर से जो बमन और शोषण का कामरुज चल रहा था, उससे विकसित होते हुए मध्य वर्ग तथा विशेषकर बुद्धिजीवी का सारा ध्यान एक और राजनीतिक उपस-पुसल की ओर चला गया, दूसरी ओर वह जीवन के प्रति एक ऊहापोहमय चित्र खींचने लगा—कभी सुधारमय, कभी निद्रोहमय और कभी वैयक्तिक स्वातंत्र्यमय।

उस समय तक हिन्दी क्षेत्र में इतने महानगर नहीं बन पाये थे। न ऐसा कोई व्यापारिक औद्योगिक केन्द्र हो या उप, जिसके सहारे बुद्धिजीवी मध्यवर्ग बड़ा एकत्र होता और नाटक रंगमंच जैसे साप्ताहिक प्रयास के लिये उत्पन्न होता। उस समय प्रयाग में माधव मुन्स ने श्रीकृष्ण हिन्दी रंगमंच की स्थापना की, लेकिन उन्हें औषिकोपार्जन के लिये कलकत्ते जाना पड़ा। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं, जहाँ प्रयाग, काशी, फानपुर, मेरठ, पटना, सीता, नागपुर, दिल्ली आदि केन्द्रों में हिन्दी नाटक संबंधी क्रियाकलाप बड़ी तेजी से शुरू होकर सहसा एक मिनट पर आकर बिखर गया। उल्टाही लोगों को या तो मौकरी लिये इधर-उधर भागना नहीं पड़ा, तो उन्हें किसी राजनैतिक आंदोलन ने धर दवाया। इस तरह इस काल में अखंड श्रीकृष्ण नाट्यमंच बने, उनके रंगमंच कार्यक्रमलाप हुए, पर उन्हीं कारणों से, तथा हिन्दी क्षेत्र की एक विशेष सांस्कृतिक बनावट ने, रंगमंच की जड़ों को उस तरह फेलने और अपनी जमीन पकड़ने का अवसर नहीं दिया, जैसे बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में संभव हुआ।

हिन्दी क्षेत्र का पर्वक समाज, कुमनू पारसी चिट्ठर (विशेषकर अहमद और कोरमियन की तकस में बड़ी तमाम मञ्चलियाँ) का प्रदर्शन देख रहा था। सीता की भूमिका अब रंजिती निभा रही थीं। राम भव रसिया के रूप में मंच पर आने लगे।<sup>१</sup> वर्षक समाज को इससे कोई एतराज नहीं था। फिर जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना और आवादी की लड़ाई तीव्र होने लगी, वैसे नाट्य प्रदर्शनों के प्रति साहित्यिकों—बुद्धिजीवियों में उत्साह जगा। विशेषकर 'रामसीता' के सबसे रों पर जगह-जगह नाट्यप्रदर्शन शुरू हुए और यह रंग-उत्साह बड़ी तेजी से बढ़ा।

१ देखिये, शिवपूजन सहाय का लेख, 'साधुपी' लखनऊ, वर्ष ६ सुनसी संवत् ३०४ (१९४४ वि०)।

इस प्रसंग में प्रयाग पहले चिया जाना चाहिए। सुपुन पं० सधसोकोठ प्रदु प्रसाद, गुप्त, देवेन्द्रनाथ के आचार पर, माधव मु 'संशु हरिश्चन्द्र' जैसे ना 'महाराजा प्रयाग' नाटक

इस मण्डली के अति मञ्चलियाँ नहीं। अहमद-रिखियों की भूमिकाएँ कले प्रदर्शन से पहले 'कवि जाते। हिन्दी साहित्य स-नगरों में हिन्दी के नाटक और से भी नाटक होने माधव मुन्स जैसे अनेक दिया। विषयविधासयों, लेने लगे। इस रंगमंचर तथा हिन्दी प्रेमियों की नाट्यसंस्थाएँ लगी।

कलकत्ता की 'नागर कस-ता का 'भारते 'काशी नाट्य मण नाटक मञ्चली' काशी की 'भारतेनु प्रयाग का 'हिन्दी न प्रयाग की 'रामसीता प्रयाग में प्रो० गवाड मिन मण्डली' खरसपुर की 'नाट्य आच की 'मनोरंजन

देश का वाय तो राष्ट्रीय चेतना का विकास हो रहा था। इस संघेनी मासिक की ओर से इसे विकसित होते हुए मासिक और राजनीतिक उपलब्धि-पुष्पक एक ऊहापोहमय चित्र खींचने का वैयक्तिक स्वातंत्र्यमय।

वही बन पाये थे। न ऐसा सहारे बुद्धिजीवी मध्यवर्गिक प्रयास के लिये तत्पर हिन्दी रंगमंच की स्थापना जाना पड़ा। इस तरह के बढ, पटना, काशी, नाबपुर, जयपुर तेजी से शुरू होकर लोगों को या तो नीकरी राष्ट्रीयता का बोलाव ने घर दरदर बने, उनके रंगमंच का एक विशेष सांस्कृतिक और अपनी जमीन पकड़ने का प्रयत्न में संभव हुआ।

एक विशेषकर अल्फ्रेड और प्रदर्शन देख रहा था। सीता रंगमंच के रूप में मंच पर आने का। फिर जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना का नाट्य प्रदर्शनों के प्रति रुचि 'रामलीला' के अवसरों पर उल्लास बढ़ी तेजी से बढ़ा।

जयपुर, बंग ६ सुसंघी संभव

इस प्रसंग में प्रयाग की 'श्रीरामलीला नाटक मण्डली' का नाम सबसे पहले लिया जाना चाहिए। इस मण्डली के संस्थापक थे पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, मानवीश्वरी के सुपुत्र पं० रामकान्त मालवीय, बेनी प्रसाद, गुप्त, देवेन्द्रनाथ बलरौं आदि। इस नाटक मण्डली ने रामचरित मानस के माझार पर, माधव सुक्ल द्वारा लिखित 'सीता स्वयंवर' और भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' जैसे नाटकों को कितनी बार देखा। बागेश्वर रामकृष्णदास का 'महाशय्या प्रसाद' नाटक देखा गया।

इस मण्डली के अतिरिक्त प्रयाग, काशी, जयपुर, जयपुर में हिन्दी नाट्य मण्डलियां बनीं। जल्द-जल्द वरों के युवक इसने अंग बनने लगे। लड़के ही स्त्रियों की सुमिकाएँ करते रहे। बर्तकों को आकर्षित करने के लिये नाट्य-प्रदर्शन से पहले 'कवि सम्मेलन' और 'मुसाफिरे' रचे जाते। 'प्रहसन' खेले जाते। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने अधिवेशनों के उपसदस्य में विभिन्न नगरों में हिन्दी के नाटक देखवाने शुरू किए। 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की ओर से भी नाटक होने शुरू हुए। पद्मामुखर दास, जिवपूजन सहाय, पं० माधव सुक्ल जैसे अनेक साहित्यिक व्यक्तियों ने हिन्दी रंगमंच को सहयोग दिया। विश्वविद्यालयों, कालेजों, स्कूलों से भी प्राध्यापक वर्ग अभिनय में भाग लेने लगे। इस संभवधारण का व्यापक प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीय चेतना से अंतर्प्रेरित तथा हिन्दी प्रेमियों की सहायता सहयोग से जगह-जगह कुछ उल्लेखनीय नाट्यसंस्थाएँ बनीं :

- कलकत्ता की 'नागरी नाटक मण्डली'
- कलकत्ता का 'भारतेन्दु नाट्य समाज'
- 'काशी नाट्य मण्डली', 'नटराज', 'नागरी प्रचारिणी सभा', 'नागरी नाटक मण्डली'
- काशी की 'भारतेन्दु नाट्य मण्डली'
- प्रयाग का 'हिन्दी नाट्य समाज', 'हिन्दी नाट्य समिति'
- प्रयाग की 'रामलीला नाटक मण्डली'
- प्रयाग में श्री० रामप्रसाद द्वारा संचालित कायस्थ पाठशाला की 'नाटक मंच मण्डली'
- जयपुर की 'नाट्य समिति'
- वाराणसी की 'मनीरंजन नाटक मण्डली'

मुम्बईकरपुर की 'नवयुवक समिति'  
छपरा की 'शारदा नवयुवक समिति'  
साखनऊ में 'अवधनाट्य मण्डली'  
फैजाबाद में 'रामलीला नाटक समाज,' 'कला मंडल'  
कानपुर में 'उत्साही समाज,' 'जागो भारत'  
बस्ती में 'पक्का बाजार नाटक मंडली'  
मेरठ में 'आशुतोष भारत' के उपरांत 'नया भारत समाज'  
आगरा में 'हिन्दी नाटक समाज'  
मधुरा में 'हिन्दी नाट्यपरिषद'

इस तरह का व्यापक सौकिया नाट्यसमाज पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र में छा गया। इन नाट्यसंस्थाओं के प्रदर्शन यदाकदा ही हुआ करते थे। विशेषकर, धार्मिक पर्व और सामाजिक उत्सवों के अवसर पर नाट्यप्रदर्शन अनिवार्य रूप से होते थे। इनमें ऐसे ही नाटक खेले जाते थे, जिनके विषय राष्ट्रीय चेतना तथा समाजसुधार हों। रंगमंच गौरी, और प्रदर्शन का बीचा पारसी थिएटर से ही ग्रहण किया जाता था। इन नाट्यमंडलियों में 'नेतान' 'राष्ट्रियाम' और हथ के भी अनेक नाटक खेले गए—पर फाट फाट करके। बी० एल० राय के सारे रोमांटिक ऐतिहासिक नाटक खेले गए।

काशी में, बाद की 'आगरी नाट्यकला संगीत प्रदर्शन मंडली', 'भारतवर्ष मंडल', और 'आस्तेन्दु नाट्यमंडल' में जो नाट्यप्रदर्शन हुए, उनमें सान्नी सीतरी बनवाने का काम गौर प्रेक्ष के प्रतिष्ठ चित्रकार टी० के० और बी० के० मित्रा से लिया जाने लगा और पारसी रंगशैलियों को भी उन्ही उदारता से ग्रहण किया गया।

इस शौकिया हिन्दी नाट्यमंडलियों की रंगमंच कला, प्रदर्शन स्तर तथा अभिनय शैली का अंशज सगाने के लिये उस काल के अभिनेता, निर्देशक और उत्साही रंगकर्मी ओललितकुमार सिंह 'नटवर' के इस विचार को पढ़ा जा सकता है :

'हमारी अधिकांश नाटक समितियाँ पेशेवर पारसी स्टेजों की मही नकल हैं, मही इसलिये कि पार्सीपन की वह चुस्ती, वह मस्ती, वह 'प्रोप्रेसन' नाममात्र को यहाँ नहीं होते, केवल हाथ पेर, और आँख मूँह के बेतरह संचालन, वेष्टभूषा तथा उच्चारण की थोड़ी बहुत नकल अवश्य की जाती

हैं। उनमें भी वि  
वेनीले और के  
अप्यास न होने  
बना सकते हैं।  
वेष्टभूषा की  
बाधी इसी का  
उच्चारण भात  
इसमें भी बड़ा  
किसी तरह क  
की तरह पार्ट  
राखलोला और

पारसी वि  
नाटकों की पर  
हो जाती है।  
सिखे गए उन  
हुआ। एक की  
उर्वप्रधान हो  
पारी भरकम  
हूतरे को मा  
रूपमंड, रंगवि  
सामाजिक मा  
प्रयत्न किया।  
कारण अपनी  
धोनों प्रक  
की परम्परा थी  
के बाद उन्ही र

रंगमंचवि  
१. हमारा रं  
४

है। उसमें भी विराध, नियमानुसार एक एक कर नोटने का प्रयोग अधिकतर बेनोले और बेवोले शीर पर किया जाता है।... हमारे तकसमी मट, निरंतर प्रत्यास न होने के कारण इसकी (पारसी थिएटर की) शीर भी मटो नकल बना चलते हैं। थिएट्रिकल कर्मी की तो शीर भी मटोपनीक की जाती है... वेनापूरा की भी मटो नकल की जाती है... हमारे अंग्रेजी वी हिन्दी भाषा भाषी इसी का (बंगला, अंग्रेजी वाचिक अभिनय) अनुकरण अधिक करते हैं। वाधारण वातालाप में भी व्याख्याननुमा ढंग से बातचीत करते हैं। इसांकि इसमें भी बड़ा आवेग और प्रवाह है, किन्तु व्याख्यात्मकता में पार्सीविन से कियो तरह कम गहीं है। कुछ इस तरह के पात्र हैं, जो स्त्रीकी सक्क चुनाने की तरह पाठ करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ 'नाटक समितियों' में रामलीला, रासलीला और वीटकी के से व्यास खेले जाते हैं।<sup>११</sup>

पारसी थिएटर और हिन्दी के लोकिय रंगमंच प्रवर्तनों की और उनके नाटकों की परस्पर तुलना से इस काल की उपलब्धि और सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। पारसी नाटक और रंगमंच की प्रतिक्रिया से जो हिन्दी नाटक लिखे गए उनमें विषयवस्तु के भेद के अतिरिक्त भाषाभेद बहुत ही स्पष्ट हुआ। एक की भाषा, सन्देश्यार, शक्यदमक वाली, आवेग और मस्तीवाली चर्चप्रधान शीरो की जो हिन्दी नाटक की भाषा साहित्यिकता के आयु से भारी भरकम, संस्कृतनिष्ठ हुई। एक की भाषा में अभिनेता जीवूव था, दूसरे की भाषा में उत्तरोत्तर पाठक आता गया। साहित्यिक नाटकों के रूपबंध, संविधान पारसी थिएटर से जो लिखे गये। मिथजी ने अपने साप्ताहिक नाटकों में यथार्थवादी रंगमंच और रूपबंध माने का उत्प्रेषणीय प्रयास किया। पर यह दुहरी प्रतिक्रियात्मक रंगमंच से सर्वथा फटे रहने के कारण अपनी रंगशीली की न तो सीमा ही देख सके न सामर्थ्य ही।

दोनों प्रकार के नाट्यप्रवर्तन काफी अंधे हुआ करते थे। दोनों में शीर की परस्पर थी। पारसी थिएटर में जैसे नाच पर धुब नम था, यहाँ 'प्रसाव' के साथ इसी तरह नाच गाने से यथासंभव बचने की प्रवृत्ति बढ़ी।

रंगमंचविधान, और प्रदर्शनशीली के प्रसंग में यह स्पष्ट कहा जा

१. हमारा रंगमंच और अभिनय कला, 'माधुरी', वैशाख तुलसी संवत् २०६।  
४



सकता है कि यह पूरा काल यहाँ एक ओर पारसी थिएटर का स्वर्णकाल था, वहीं इसी की छाया में हिन्दी नाटक और उसका सौक्यिया रंगमंच विकसित हुआ। इस विचार को छोड़कर अपनी नाट्यपरम्परा से कोई मधी रंगतमास, भारतीय के नाम से इस काल तक नहीं हुई। रंगमंच क्षेत्र में न अपना कोई महत्वपूर्ण अभिनेता हुआ न निर्देशक—यहाँ तक कि कोई एक भी ऐसा रंगतमीक्षक तक नहीं प्रकट हुआ, जो इस काल के समूचे रंगमंच को किसी भी दृष्टिकोण से देखता। यहाँ तक भी न हुआ कि पारसी थिएटर और हिन्दी सौक्यिया रंगमंच के कार्यकर्ताओं का कुछ सौधा बोधा करता, या सात सम्बन्धग्रह ही कर जानता।

रंगमंच पर से इतना उबास, कटा हुआ जैसे पराजित देश हिन्दी नाट्य-कला ने अपनी रंगप्रतिक्रिया केवल 'नाट्यसेवन' तक ही सीमित रखी, और उसमें उसने पूरे राष्ट्रीय चरित्र को, काल की पूरी सामाजिक चेतना को, उल्लासोह जमंग, आसा निरासा, तथा विद्रोहबोध को सादुक अभिव्यक्ति दे देनी चाही।

□ □

स्वतंत्रता से  
एक ओर पारसी  
के आगमन के  
का सौक्यिया रंग  
विश्वविद्यालयों  
इस काल के प्रायः  
तक ही सीमित क  
और क्षेत्र में एक  
व्यावहारिक  
रही। काफी लम्बे  
और इसे रंगरसि  
से ही रंगमंच पर  
पृथ्वी थिएटर  
इष्टा—इति  
ये दोनों ना  
चरित्र युक्तः  
आयाम या स्व  
इसने भारतीय  
छोड़कर, प्रत्युत  
केसे अपने लोक  
सही जगों में न  
होता है। तीस  
कपोपक्षराम, ब  
बलिदान

पारसी पिएटर का स्वर्णकाल था, और उसका शीकिया रंगमंच विकसित नाट्यपरम्परा से कोई नयी रचनासाध, नहीं हुई। रंगमंच क्षेत्र में न अपना कोई नया स्वरूप तब तक कि कोई एक भी ऐसा इस काल के समूचे रंगमंच को किसी भी न हुआ कि पारसी पिएटर कलाकारों का कुछ लेका जोखा करता,

जैसे पराजित इस हिन्दी नाट्य-साहित्यसेवन' तक ही सीमित रखी, को, काल की पूरी सामाजिक जेतना उन्ना विद्रोहनों को भावुक अभिव्यक्ति

□ □

## स्वतंत्रता के बाद का हिन्दी रंगमंच

स्वतंत्रता से पूर्व, लगभग सम्पूर्ण ही छत्तीस बरसों के आसपास वहाँ एक ओर पारसी हिन्दी रंगमंच अपनी चरम परिणति पर पहुँचकर उनीसा के जायमान लखवा समीप के अंक में समा जाता है, दूसरी ओर वहाँ हिन्दी का शीकिया रंगमंच की केवल एक ही नाट्य प्रदर्शन—बहु भी केवल कालेज विश्वविद्यालयों के रंगमंच तक सीमित हो जाता है, और तीसरी ओर वहाँ इस काल के प्रायः सभी नाटककार अपनी प्रतिभा को केवल 'नाट्यसेवन' तक ही सीमित कर लेते हैं—वही स्वभावतः रंगमंच स्तर से, उसके अगत और क्षेत्र में एक शून्यता और रिक्तता पैदा होती है।

व्यावहारिक हिन्दी रंगमंच में यह शून्यता तक से आकाशी तक खिंची रही। काफी लम्बा काल है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से उस शून्यता को तोड़ने और इसे रंजित करने की दिशा में—प्रत्यक्ष न सही, तो परोक्ष ही ढंग से दो रंगमंच दलों ने, रंगमंच शक्तियों ने, अत्यन्तनीय कार्य किया है :

पुष्पी चिवेटर

दृष्टा—इंडियन पीपुल चिवेटर

ये दोनों नाट्य दल अपने सदस्यों के साथ अवतरित हुए। दृष्टा' का चरित्र मुख्यतः राजनीतिक था—विशेषतः साम्यवादी पार्टी का यह रंगमंचीय मायायन वा स्वरूप था। इस सीमा अथवा राजनीतिक मर्यादा के बावजूद दलने भारतीय रंगमंच की बहुत बड़ी सेवा की। इसने अपने रंगमंच से खोजकर, प्रस्तुत कर यह विश्वासा कि भारत का नया, अपना रंगमंच किसता, कैसे अपने लोक रंगमंच से कितने रंगरस्य से लकड़ा है। दूसरे रंगमंच जब सही कर्मों में मानव पवार्थ से जुड़ता है, तब उसका नया अपूर्व व्यक्तित्व होता है। तीसरे कुछ कहने के लिये, भावनामय संवाद, बौद्धिक, शारीरिक कपोपकमन, बड़ी-बड़ी घटनाओं, मंच दृश्यों की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि मानव दुःख-दुःख के भावन, तर्जन, हँसी मजाक, व्यंग प्रहसन, मकल

के छयातल से नीकड़, प्रस्तुत कर 'बात' कही जा सकती है। और अपार दर्शक वर्ग तक पहुँचायी जा सकती है।

इस रंगमंच का मूल क्षेत्र था, बंगाल और महाराष्ट्र—केन्द्र थे, कलकत्ता और बम्बई। मुख्यतः बंगला, बराठी भाषा में ही इसने अपनी अभिव्यक्ति की, पर हिन्दी भाषा को भी इसने अपनाया। और दसाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, पटना, दिल्ली इस नाट्यमंच के अक्षर पहलू बन जाते हैं। और इस रंगमंच की स्वाभाविकता, सहजता, शक्ति और प्रभाव से हिन्दी क्षेत्र अवश्य ही परिचित हुआ।

इसके ठीक विपरीत 'पृथ्वी विद्येटर' शुद्ध आत्मसात्विक रंगमंच था। पारसी विद्येटर से अलग हटकर, हिन्दी खनीमा की होड़ में इसने रंगकला, समाज आदर्श, श्रेष्ठ अभिनय, इन सबको अतिनाटकीय नाटकों से मिलाकर एक नया अर्थदाय शुरू किया। 'पठान', 'दीवार', 'आहुति', 'कलाकार' आदि नाटकों से पृथ्वी विद्येटर ने उस शून्य को, व्यवधान को, अपने ढंग से भरना चाहा—और अपार दर्शकों को शुद्ध रंगस्तर से अभिभूत किया।

पर यह कुनियारी प्रभन सतत बना रहा कि हिन्दी का अपना निजी रंगमंच क्या है, क्या हो? यह वही प्रश्न था जिससे अपने-अपने स्तर से कभी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साक्षात्कार किया था, कभी प्रसाद ने, और शुद्ध बौद्धिक स्तर से कभी मिथ जी ने और एकांकी स्तर से रामकुमार, घुबनेश्वर और 'अरक' ने।

स्वतंत्रता के बाद पूरे भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी क्षेत्र की स्थिति में, अनौवशा में एक अपूर्ण परिवर्तन आया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त यहाँ को नयी सांस्कृतिक चेतना जमी, उसमें रंगमंच-विषयक नवीनमेय का साथ परम उत्सेखनीय है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकार की ओर से प्रायः नाट्य-महोत्सव होने लगे। मुख्यतः हिन्दी-क्षेत्र में और उसके प्रतिनिधि नगरों—जैसे दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, पटना, जयपुर, दसाहाबाद आदि में नौसियों नाट्य-संस्थाएँ बननी। सांस्कृतिक समारोहों तथा उद्घाटन के अवसरों से लेकर मंत्रियों तथा अफसरों के स्वागत-उपलक्ष्य में और शक्ति में विकास-केन्द्र के अगुओं तक नाट्य-प्रदर्शन की व्यापकता हमें देखने को मिलने लगी।

लेकिन क्या हमें की क्या है? यह चेतना पूर्ण उद्भूत है, अपना उस पर इसका जोर कहीं और है? यह देखना चाहिए कि और उसके फलस्वरूप इसका

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा बहुत ही कि हमारा देश राजनीति के सम्पर्क में आया—और कि आर्थिक, औद्योगिक तथा सांस्कृतिक विकास के द्वारा देश बहुत ही अपनी सांस्कृतिक उपलब्धि हमारा देश वास्तव में इसी इसके फलस्वरूप उर्ध्व, सांस्कृतिक आवाग-प्रदान प्रकृति के, कभी संगीत, कि हमने बड़े गर्व से सिद्धे सिद्ध और संगीत-कला के मले और उपलब्धियों ने उन समुन्नत र

पर इस सारे प्रसंग में हमें विशेषकर राजधानी दिल्ली कीजिए रंगमंच का और न उन अनुल सांस्कृतिक उपलब्धि, सर्वथा अभाव (जो सारी संस्कृति यह विरोधाभास इस व्यापक है अगर। और इससे माँ आये

वह पुनोती को, भारत कर सके। क्योंकि हिन्दी ही संदर्भ में भारतीय रंगमंच क्या

केन्द्रित ध्यान देने की बात है, कि इस नवोन्मेष की प्रकृति और स्थिति क्या है? यह चेतना पूर्णतः हमारे वास्तविक समाज अथवा अल्पजीवन से उद्भूत है, अथवा उस पर आरोपित है? यह प्रेरणा अपने-आपमें है अथवा इसका स्रोत कहीं और है? इसकी दिशाति क्या है?

यह देखना चाहिए कि इस नवोन्मेष प्रेरणा-शक्ति क्या रही है? और उसने फलस्वरूप इसका रूप क्या बना है?

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, हमारे देश का अंतर्राष्ट्रीय संबंध संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा बहुत तेजी से बदले गया। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट है कि हमारा देश राजनीति के स्तर से अधिक सांस्कृतिक स्तर से शेष संसार के सम्पर्क में आया—और विशेषकर ऐसे समुन्नत राष्ट्रों के सम्पर्क में, जो आर्थिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में हमसे बहुत-बहुत आगे थे। स्वभावतः हमारा देश बहुत ही ज्वार भावना, और पूर्ण विश्वास से, मुख्यतः अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के साथ उन समुन्नत राष्ट्रों के सम्पर्क में आया। हमारा देश शरत्काल में इसी स्तर से इनके मुकाबले में आ मो सकता था। इसके फलस्वरूप इंग्लैंड, अमेरिका, रूस, फ्रांस तथा एशियाई देशों से हमारे सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुए। बड़े-बड़े सांस्कृतिक शिल्पमंडल—कभी लुभ के, कभी संघोत, चित्रकला तथा प्रिन्टिंग आदि के, आते-जाते लगे। हमने बड़े गर्व से विदेशी शिल्पमंडलों को अपनी मूर्ति-कला, स्थापत्य कला, नृत्य और संघोत-कला के मेल और प्रदर्शनी विखनाई और इस देश की सांस्कृतिक उपलब्धियों ने उन समुन्नत राष्ट्रों को प्रभावित भी कर लिया।

पर इस सारे प्रसंग में हमें एक बहुत बड़े अभाव का सत्य खटका—विशेषकर राजधानी दिल्ली और हिन्दी-क्षेत्र के नगरों को। यहाँ न कोई शीघ्र रंगमंच था और न उसकी कोई व्यावहारिक नाट्यकला थी। हमारी अशुभ सांस्कृतिक उपलब्धि, विशिष्टता और इसमें रंगमंच-जैसे सत्य का सर्वथा अभाव (जो सारी संस्कृति का दृश्य रूप है उस रूप है और कसौटी है)। यह विशेषाभाव इस व्यापक और जीवन्त क्षेत्र को जैसे सकलशोरकर चुनौती दे गया। और इससे जो आगे एक बृहत्तर चुनौती सामने आई।

यह चुनौती थी, भारतीय रंगमंच को—हिन्दी विश्वका प्रतिनिधित्व कर सके। क्योंकि हिन्दी ही उस नये प्रजातंत्र की राष्ट्र भाषा थी। इस संदर्भ में भारतीय रंगमंच क्या है, यह एक बुनियादी प्रश्न था।

कही जा सकती है। और अपार

और महाराष्ट्र—केन्द्र थे, कसकला  
 भाषा में ही इसने अपनी अभिव्यक्ति  
 बनाया। और इसाहाबाद, सख्तनऊ,  
 अकसर पहाव बन जाते थे। और  
 शक्ति और प्रभाव से हिन्दी क्षेत्र

र' शुद्ध व्यावसायिक रंगमंच था।  
 सनीमा की होठ में इसने  
 इन सबको अतिनाटकीय नोटकों  
 किया। 'पठान', 'दीवार', 'आहुति',  
 अंतर ने उस गूम्ह को, व्यवधान को,  
 दर्शकों को शुद्ध रंगस्तर से अभिभूत

रहा कि हिन्दी का अपना निजी  
 रूप या किलखे अपने-अपने स्तर से  
 किया था, कभी प्रशस्त ने, और  
 ने और एकांकी स्तर से रत्नकुमार,

में, विशेषकर हिन्दी क्षेत्र की स्थिति

को नयी सांस्कृतिक चेतना जगी,  
 परत उल्लेखनीय है। श्रेणीय तथा  
 होलक होने लगे। मुख्यतः हिन्दी-क्षेत्र  
 दिल्ली, सख्तनऊ, कानपुर, पटना,  
 नाट्य-संस्थाएँ बनीं। सांस्कृतिक  
 लेकर चरित्रों तथा अफसरों के  
 केन्द्र के अस्तित्व तक नाट्य-प्रदर्शन

केविन ग्लान केने की बात है, कि इस नवोन्मेष की प्रकृति और स्थिति क्या है? यह चेतना पूर्णतः हमारे वास्तविक समाज अथवा अल्पजीवन से उद्भूत है, अथवा उस पर आरोपित है? यह प्रेरणा अपने-आपमें है अथवा इसका स्रोत कहीं और है? इसकी स्थिति क्या है?

यह देखना चाहिए कि इस नवोन्मेष प्रेरणा-शक्ति क्या रही है? और उसके फलस्वरूप इसका रूप क्या बना है?

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, हमारे देश का अंतर्राष्ट्रीय संबंध संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा बहुत तेजी से बदलने लगा। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट है कि हमारा देश राजनीति के स्तर से अधिक सांस्कृतिक स्तर से शेष संसार के सम्पर्क में आया—और विशेषकर ऐसे समुन्नत राष्ट्रों के सम्पर्क में, जो सांख्यिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में हमसे बहुत-बहुत आगे थे। स्वभावतः हमारा देश बहुत ही ज़रूर भावना, और पूर्ण विश्वास से, मुख्यतः अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के साथ उन समुन्नत राष्ट्रों के सामने आया। हमारा देश वास्तव में पूरी स्तर से उनके मुकाममें में आ मो सकता था। इसके फलस्वरूप जर्मनी, अमेरिका, रूस, फ्रांस तथा एशियाई देशों से हमारे सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुए। बड़े-बड़े सांस्कृतिक शिल्पसंग्रह—कभी नृत्य के, कभी संगीत, चित्रकला तथा उचित आदि के, आने-जाने लगे। हमने बड़े-बड़े विदेशी शिल्पसंग्रहों को अपनी मूर्ति-कला, स्थापत्य कला, नृत्य और संगीत-कला के मेले और प्रदर्शनी दिखनाई और इस देश की सांस्कृतिक उपलब्धियों में उन समुन्नत राष्ट्रों को प्रभावित भी ज्ञान किया।

पर इस सारे प्रसंग में हमें एक बहुत बड़े अभाव का सत्य खटका—विशेषकर राजधानी दिल्ली और हिन्दी-क्षेत्र के नगरों को। यहाँ न कोई सीधित रंगमंच था और न उसकी कोई व्यावहारिक आवश्यकता थी। हमारी अक्षुण्ण सांस्कृतिक उपलब्धि, विशिष्टता और उसमें रंगमंच-जैसे सत्य का सर्वांगीण अभाव (जो हमारी संस्कृति का टुण्ड रूप है उस रूप है और कसौटी है)। यह विरोधाभास इस व्यापक और कीदन्त क्षेत्र को जेसि हकमोशर चुनौती दे गया। और इससे भी आगे एक बृहत्तर चुनौती सामने आयी।

यह चुनौती थी, भारतीय रंगमंच को—हिन्दी जिसका प्रतिनिधित्व कर सके। क्योंकि हिन्दी ही उस नये प्रवातंत्र को राष्ट्र भाषा थी। इस संदर्भ में भारतीय रंगमंच क्या है, यह एक बुनियादी प्रश्न था।

की कही जा सकती है। और अपना

की और महाराष्ट्र—केन्द्र थे, कमकला  
 तथा में ही इसने अपनी अभिव्यक्ति  
 बनाया। और इसाहाबाद, साखनऊ,  
 के अक्षर पहचान बन जाते थे। और  
 , शक्ति और प्रभाव से हिन्दी क्षेत्र

र' युद्ध व्यावसायिक रंगमंच था।  
 की सन्तोषा की होड़ में इसने  
 , इन सचको अतिनाटकीय नरदकों  
 किया। 'पञ्चन', 'दीवार', 'आहुति',  
 अक्षर ने उस भूमि को, व्यवधान को,  
 शक्ति को युद्ध रंगस्तर से अभिभूत

था रहा कि हिन्दी का अपना निजी  
 अक्षर या जिससे अपने-अपने शतर से  
 र किया या, कभी प्रयास ने, और  
 ने और एकांकी स्तर से रत्नकुमार,

में, विशेषकर हिन्दी क्षेत्र की स्थिति

की नयी सांस्कृतिक चेतना कभी,  
 परत उत्सेहर्षीय है। वैश्वीय तथा  
 होरसम होने लगे। मुख्यतः हिन्दी-क्षेत्र  
 दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, पटना,  
 नाट्य-संस्कार बनीं। सांस्कृतिक  
 से लेकर पंजिरी तथा अक्षरों के  
 के अक्षरों तक नाट्य-प्रदर्शन

जब हम भारतीय रंगमंच कहते हैं तो हमारे सामने बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात वसिष्ठ भारत और हिन्दी का बहु बहु रंगी, बहु रंगी विविध रंगमंच की बहुआयामी तस्वीर उभरती है—जिसमें कई परंपरार्य हैं, जितने विभिन्न रंग संस्कार हैं। इन सब साराओं, रंगों और परंपराओं के भीतर से ही भारतीय रंगमंच की अवधारणा प्राप्त की जा सकती थी। इसके बिना किसी एक ऐसे केन्द्रीय रंग संस्थान की अनिवार्यता महसूस की गयी जो अन्तिम भारतीय स्तर पर उसके बहु रंगी, बहुआयामी रंग स्थितियों के सेशु अवकाश साम्यन बनकर भारतीय रंगमंच की प्रतिष्ठा में योज दे सके।

दिल्ली में 'संघीय नाटक अकादमी' और 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' इन दोनों संस्थानों की प्रतिष्ठा के पीछे कायद वही दृष्टि विद्यमान थी।

मुख्यतः 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' ने राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय रंगमंच की तलाश और विशेषकर हिन्दी रंगमंच को एक नयी मर्यादा और स्वर देने में कई महत्वपूर्ण कार्य किये।

हिन्दी, हिन्दुस्तानी भाषा ही व्यावहारिक रूप से नेशनल स्कूल के रंग प्रदर्शन का माध्यम बनी। मराठी स्कूल में शिक्षण प्रणाली की भाषा भी अंग्रेजी। पर चूंकि सारा माध्यम का रंगमंच के व्यवहार पक्ष पर, उसकी दृष्टि प्रतिष्ठा पर। इसलिये गलत ही ठाई दशकों में जितने भी नये महत्वपूर्ण निर्देशक, अभिनेता, रंगशिल्पी संपूर्ण भारतभर्य के रंगमंच में अवतरित हुए, इनमें अधिकांशतः इसी नेशनल स्कूल की ही सृष्टि हैं। नेशनल स्कूल के निर्देशक इनाहिल अरकाजी के संस्थापन प्रशिक्षण में निकले हुए अनेक निर्देशक, अभिनेता और रंगकर्मी वर्तमान भारतीय रंगमंच के अग्रत उदाहरण हैं।

पर मुख्यतः हिन्दी रंगमंच की वास्तविक आधुनिक ओष्ठ देने का श्रेय विशेषकर इ० अरकाजी को है और सामान्यतः पूरे नेशनल स्कूल को है।

अरकाजी के निर्देशन और परिकल्पना में नेशनल स्कूल द्वारा प्रस्तुत, 'अंधाधुंग', 'आवाज का एक बिल', 'गोवाण', 'आरतीया', और 'सूर्यमुख' जैसे हिन्दी के नये नाटकों द्वारा बहु पहली बार अनुसृत हुआ कि अपने रंगमंच की शक्ति और सीमायें क्या हैं? कथन नाटक का हिन्दुस्तानी अनुवाद 'तुलसिक' योसियर के अंग्रेजी नाटक का हिन्दी अनुवाद 'कंकुल' और ऐसे जितने ही हिन्दुस्तानी अनुवादों के नाट्य प्रदर्शनों और उनकी कलात्मक उपलब्धियों ने हिन्दी रंगमंच

को एक महत्वपूर्ण ओष्ठ के नाट्य प्रदर्शनों ने एक ओर चित्तपुरी, तुषा, कथनपान, पंजि और मने और अभिनेताओं का बने दिल्ली केन्द्र के संबंध तक विकसित होना सचनक, फानपुर, अयपु बड़ और शिवसा तक न

मुख्यतः इनाहिल 'नाट्यकेन्द्र-स्कूल ऑफ प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण भूमिका, पारम्पर्य नाटक क्षेत्र में रंगमंच के प्रति उत्पन्न सिद्धा, जीवनन प्राप्त हुए।

इनाहिल के स्थापित की और मेरान ने अपने प्रथम चरण में कर्ना (अब मुवा शिवपुर नोबिलि आदि निर्देशकों उदाहरण हैं। 'सबाय' अभिमान्यु के प्रस्तुतीकरण कीरेन्द्रनारायण और नो जीवन से गहन अर्थों में

नये रंगमंच को तलाश जिस व्यापक और प्रतिष्ठा इस वर्तमान का (क) हिन्दी प्रांतों द्वारा और अ

को एक महत्वपूर्ण ठोस आधार दिये। हिन्दी रंगमंच को वहीं धर्मों में अल्फाजी के नाट्य प्रदर्शनों ने राष्ट्रीय अथवा जखिल भारतीय मीरव प्रदान किये। ओम शिवपुरी, सुधा, उत्तरा, बजाब, मोहन महधि, कान्छ होनटक्के, रमा, बजराब, वंजित और मनोहर सिंह, सुरेशा लोकारो जैसे महत्वपूर्ण निर्देशकों और अभिनेताओं का गम्भीर दम देना हुआ।

दिल्ली केन्द्र के अतिरिक्त अब हिन्दी रंगमंच का क्षेत्र फलकता से लेकर बम्बई तक विकसित होना शुरू हुआ। इस व्यापक क्षेत्र के भीतर पटना, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, जयपुर, खोसपुर, सागर, जबलपुर, आगरा, पानिपत, चम्बो-पट और सिमला तक गम्भीर शक्तिया हिन्दी रंगमंच की प्रतिष्ठा हुई।

मुम्बयतः इलाहाबाद में सदसीनारायण लाल द्वारा संस्थापित और निर्देशित 'नाट्यकेन्द्र-स्कूल आफ ड्रैमेटिक आर्ट्स' को इस नये रंगमंच के अन्वेषण और प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण भूमिका है। हिन्दी के नये नाट्य क्षेत्र, प्रवर्तन से लेकर प्रकृत, पान्चाश वाठकों के हिन्दी अनुवाद के वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरणों ने हिन्दी क्षेत्र में रंगमंच के प्रति गहरी कलात्मक, वैज्ञानिक दृष्टि दी। इसी केन्द्र से बा० कल्याणत सिन्हा, श्रीचनलाल गुप्त और विकस कुमार जैसे निर्देशक और अभिनेता प्राण हुए।

इलाहाबाद से दिल्ली जाकर लाल ने 'संवाद' नामक नाट्यसंस्था वहाँ स्थापित की और नेमानल स्कूल आफ ड्रामा के उत्तीर्ण कई महत्वपूर्ण स्नातकों ने अपने प्रथम चरण में इसी 'संवाद' में ही कार्य किया। ओम शिवपुरी, सुधा बानी (अम सुधा शिवपुरी) मोहन महधि, राम गोपाल बजाब, मूर्ती, परांथी, गोविन्द भाषि निर्देशकों, अभिनेताओं और रंग कल्पितों के रंकार्य महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। 'संवाद' के फल्लेखनीय रंग कार्यों में 'सुनो जनमेधम', 'मिस्टर अस्मिन्धु' के प्रस्तुतीकरण अर्थात् रहे हैं। विमल ठाकुर, दयाप्रकाश सिन्हा, श्रीरेन्द्रनारायण और गोपाल माधुर और कृष्ण गोपाल के नाम 'संवाद' के जीवन से गहन व्यर्थों में जुड़े हैं।

नये रंगमंच की लप्सा और प्रतिष्ठा

विश्व व्यापक और गहन धरातलों पर हिन्दी रंगमंच की लप्सा और प्रतिष्ठा इस वर्तमान काल और परिवेश में प्रांभ हुई, उसके मुख्य केंद्र हैं :

(अ) हिन्दी प्रान्तों के बाहर—बंबसा रंगमंच क्षेत्र फलकता में 'अनामिका' द्वारा और मराठी मुम्बराती रंगमंच क्षेत्र बम्बई में 'थियेटर बुनिट'

हैं तो हमारे सामने बंबाल, महाराष्ट्र, महाराष्ट्र, बहुकपी विविध रंगमंच की नई कई परंपरायें हैं, कितने विभिन्न रंगों और परंपराओं के भीतर से ही की जा सकती थी। इसके निचे किसी निवार्यता महसूस की गयी जो अखिल मुम्बाराबी रंग स्थितिओं के सेतु अथवा संश्लेष में योग दे सके।

की ओर 'नेमानल स्कूल आफ ड्रामा' कायद रही दृष्टि विद्यमान थी।

ने राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय रंगमंच रंगमंच को एक नयी मर्यादा और स्वर

व्यावहारिक रूप के नेशकन स्कूल के रंग मंच में शिक्षण प्रमायण की भाषा थी रंगमंच के व्यवहार पक्ष पर, उसकी दृष्टि में दृष्टकों में कितने भी नये महत्वपूर्ण रंगमंच के रंक्षेत्र में अवतरित हुए, इनमें ही दृष्टि है। नेमानल स्कूल के निर्देशक लण में निकले हुए अनेक निर्देशक, अभिनेता के अविर्भूत उदाहरण हैं।

की वास्तविक जायुनिक शोध देने का क्षेत्र सामान्यतः पूरे नेमानल स्कूल को है।

रंक्षेत्र में नेमानल स्कूल द्वारा प्रस्तुत, 'गोपाल', 'भारतीय', और 'सूर्यमुख' जैसे नाम अनुभूत हुआ कि अपने रंगमंच की शक्ति का हिन्दुस्तानी अनुवाद 'नुगलक' मोमिचर 'रंक्षेत्र' और ऐसे कितने ही हिन्दुस्तानी की कलात्मक उपलब्धियों ने हिन्दी रंगमंच

द्वारा। 'अनामिका' के माध्यम से स्वामानन्द बालागन जैसे निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता का उदय, दूसरी ओर इ० अस्काषी द्वारा संस्थापित 'थियेटर युनिट' के माध्यम से सत्यदेव बुने जैसे निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता के उदय इसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

(आ) हिन्दी प्रान्तों और क्षेत्रों में, क्रमशः इसाहाबाद में 'नाट्यकेन्द्र स्कूल आफ ड्रैमेटिक आर्ट्स', 'भूँ आर्ट्स' इसाहाबाद आर्टिस्ट असोसियेशन, 'प्रयाग रंगमंच' की स्थापना कानपुर में पहले प्रोफेसर सत्यभूति द्वारा 'एम्प्रेसबर्' फिर 'दर्पण' रंग संस्था की प्रतिष्ठा, बिल्ही में बेगम कैदी और इब्राहिम तमशीर द्वारा 'नया थियेटर', 'हिन्दुस्तानी थियेटर' आर० पी० आनन्द द्वारा 'इन्द्रप्रस्थ थियेटर' आर्इ० यल० दास द्वारा 'मम० टी० पी०' की स्थापना तथा रमेश मेहता द्वारा 'भूँ आर्ट्स' की प्रतिष्ठा तथा सभ्यता :

श्रीम शिवपुरी द्वारा 'दिशान्तर'

टी० पी० जैन और राजेन्द्रनाथ द्वारा 'अभियान'

आदि हिन्दी रंगमंचों की प्रतिष्ठा और कार्य इस विधा में उल्लेखनीय हैं।

कलकत्ता, उम्बई से लेकर इसाहाबाद, कानपुर और दिल्ली इन समय केन्द्रों से हिन्दी रंगमंच का जो स्वल्प विकसित हुआ, उसमें यह सत्य उभरा कि रंगमंच अपने आप में स्वायत्त कला है नाट्य दर्शन है। रंगकला काव्य की भाँति भावपूर्ण, विचारों की अभिव्यक्ति मान नहीं है, बल्कि यह मनुष्य और समाज, वेदा और कला के गतिशील कार्यव्यपार के रूप में संपूर्ण जीवन की अनुभूति को प्रस्तुत करता है। चित्र, मूर्ति, संगीत तथा अन्य कलाओं की अभिव्यक्तियों की अपेक्षा रंगमंच जीवन की अधिक समग्रता, सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत करता है।

सम्प्रति दिल्ली के रंगमंच जगत में और सामान्यतः हिन्दी मंच पर सुधा शिवपुरी, मुवा चोपड़ा, सुचना सेठ, कविता नामपाल, टी० पी० जैन, शिवपुरी, श्याम अरोड़ा, कचोक सरीन, रामगोपाल बबलन के नाम अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

□ □

ऐतिहासिक  
प्रारम्भ से  
कई बरों  
इसक के प्रा  
है और यह  
और उनका  
साहित्य की  
का अपना  
ठीसरी बात  
हिन्दी-साहि  
भारतेन्दु हा  
दीपनी  
नहीं की जा  
बादी जमीन  
रंगमंच की  
आपने विष्णु  
सांस्कृतिक  
इसरी द्वारा  
तन्वी परम्प  
'शेक्सपियरि  
रूप का 'शे  
द्वारा, (जो  
चेतना, चि



समान्य ज्ञानान्तरिक्ष निर्देशक  
१० अक्षांशी द्वारा संस्थापित  
दुसरे जैसे निर्देशक और अक्षुण्ण-  
वर्ण हैं।

साहाय्य में 'नाट्यवेध' हस्त  
साहाय्य आर्टिस्ट एसोसिएशन,  
पहले प्रोफेसर सत्यभूति द्वारा  
प्रतिष्ठा, दिल्ली में वेगम जैदी  
'हिन्दुस्तानी थियेटर' और  
वर्ष १९३१ द्वारा 'सत्य-  
भूषण' द्वारा 'पी. आर्ट्स' की

अभिमान'  
विद्या में उल्लेखनीय हैं।

र और दिल्ली हम समस्त  
था, उसमें यह सत्य समस्त  
वर्षान है। रंगकला का  
ही है, बल्कि यह मनुष्य और  
रूप में संपूर्ण जीवन की  
तथा अन्य कलाओं की अभि-  
प्रकृति, संपूर्णता के साथ

अभ्युदय: हिन्दो मंच पर सुभा  
स, टी० पी. जेन, शिवपुरी,  
के नाम अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

□ □

## आधुनिक हिन्दी नाटक

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक हिन्दी नाटक की प्रथमिका वर्तमान सदी के प्रारम्भ से शुरू होती है। इस सदी में हिन्दी नाटक के विकास को लोचने ही कई बातें सामने आती हैं। पहली बात यह है कि बीसवीं शती के दूसरे दशक के प्रारम्भ से जयसंकर प्रसाद जैसे नाटककार का नाम कीर्तने लगता है और यह स्पष्ट करना कठिन होता है कि जयसंकर प्रसाद का नाट्य-लेखन और उनका सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य रंगमंच की कोटि में रखा जाय या सुब साहित्य की कोटि में। दूसरी बात यह है कि बीसवीं शती के प्रारम्भ में हिन्दी का अपना यह कौन-सा रंगमंच था जिसे हम इस विकास क्रम में चर्चित करें। तीसरी बात यह कि बीसवीं शती से पूर्व जन्नीयों जतान्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दो-साहित्य तथा हिन्दी रंगमंच के प्रथम और अतिमहत्वपूर्ण नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोड़कर कैसे दस शती के नाटककारों की चर्चा करें।

बीसवीं शती के हिन्दो नाटकों की चर्चा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोड़कर नहीं की जा सकती, क्योंकि भारतेन्दु का नाटककार व्यक्तित्व एक ऐसी दुनि-यावी कमीन तैयार करता है जिसके ऊपर बीसवीं शती के हिन्दो नाटक और रंगमंच की इमारत देखी जा सकती है। अपने काल में नाटककार भारतेन्दु के सामने विमुक्त नाट्य-स्तर पर तीन सारार्थ सामने थीं। पहली धारा थी— सांस्कृतिक नाट्य परम्परा और उससे भी तनवीक सध्ययुगीन लोक-नाटकों की। दूसरी धारा थी तत्कालीन समाज में व्याप्त हिन्दी क्षेत्रों की अपनी लोक-रंज-कामी परम्परा पर एक लोक-नाट्य धारा थी। तीसरी धारा थी पश्चिम की 'थियेटरियल' नाट्य-धारा, जो दो रूपों से उस काल में प्रवृत्त थी। पहला रूप था 'थियेटरियल' के माध्यम से पश्चिम के रंगमंच का जो सीधे अंग्रेजी द्वारा, (जो हमारे उस काल के शासक से और जिनके हाथों में सारी सांस्कृतिक शक्ति, शिक्षा आदि जिनके संवाहन से समाज और देश जाये बढ़ने को था,

उनके द्वारा) लक्ष्मी हुई, और दूसरे उनकी नकल और कुछ वहाँ के स्वयंसीय तरकों के सम्बन्ध से पैदा हुई व्यावसायिक पारसी 'थियेटर' की द्वारा।

इन तीनों धाराओं का भारतमें-वु ने बहुत समीप से अध्ययन किया था। इन तीनों के रंगमंचीय शास्त्रों को अनुभूत किया था। उन्होंने संस्कृत रंगमंच और उसके नाट्य के अनुसरण में जहाँ विविध नाट्य-प्रकारों की रचना की वहाँ उन्होंने पारसी रंगमंच के नाट्य श्रवण के आधार पर भी 'भारत बुर्दगा' और 'सत्य सूरिजसन्त' जैसे नाटकों की रचना की, तथा विभूत लोक-मंच की शलाका में उन्होंने 'अंधेर नगरी' जैसे नये नाट्य-प्रकार की खोज की। स्पष्ट रूप से उन्होंने इन तीनों धाराओं के अंतर में व्यावहारिक और सृजनात्मक, इन दोनों स्तरों से यह खोज करनी चाही कि हिन्दी का अपना नाट्य और रंगमंच क्या हो? वह बुनियादी स्तर पर अपने लोक-रंगमंच के रंगमंचों को आधार बनाकर हिन्दी का अपना मौलिक नाट्यरूप खोज रहे थे। इसके लिए उन्होंने मंच की भी रचना की, स्वयं उन्होंने नाटक खेले तथा नाटकों को रंगमंच की बुनियाद पर खड़ा करके देखा।

एक प्रसंग में बीसवीं शती के प्रारम्भ में दो सभ्य उल्लेखनीय हैं। प्रथम, बीसवीं शती के प्रथम दशक से ही पारसी थियेटर के व्यावसायिक रंगमंच का बहुत उत्कर्ष हो जाना और फिर मध्य-दशक, अर्थात् हिन्दी भाषी क्षेत्र को अपने प्रभाव में ले लेना। दूसरा तथ्य है, बीसवीं शती के पहले विशिष्ट नाटककार, जयगंकर प्रसाद का व्यावहारिक रंगमंच से दूर हटना। व्यावसायिक पारसी थियेटर की प्रतिक्रिया में अपने को खड़ा कर देना और अन्ततोगत्वा इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि नाटक को रंगमंच की शलाका नहीं होती, बल्कि रंगमंच को अस्तर ही नाटक को। यही वह बुनियादी तथ्य है, विरोधाभास है, जो हिन्दी नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में आगे एक बड़े व्यवधान को जन्म देता है। वस्तुतः हर नाट्य-कृति में उसका अपना एक रंगमंच छिपा होता है, जैसे 'रोस्तथियर' के नाटक में उसका रंगमंच छिपा था और 'कालिदास' के नाटक में 'कालिदास' का अपना रंगमंच अस्पष्ट था। इस रंगमंच के सत्य को नाटक में यही स्थिति है जैसे शरीर में अस्थि और पंजर की हालत रहती है। जैसे बिना अस्थि पंजर के प्राण और आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह बिना रंगमंच सत्य के किसी नाट्य-कृति की कल्पना नहीं की जा सकती।

फिर भी बसि  
 रंग नाटकों के सी  
 स्पष्ट विचारों के  
 "सांख्यिक अध्ययन  
 दोनों नाट्य-रूपों  
 अन्तर्गत लेते हैं।  
 की। पहला संस्कृत  
 लेकिन बाहिर है  
 है? वहाँ संभव है  
 होगा। कुछ विचार  
 है कि रस 'प्रसाद  
 बाह्य द्वारा है।  
 किया जान तो  
 लेकिन वही उभर  
 प्रसंग: साहित्यिक  
 एक क्षेत्र का  
 का रंगमंच न प  
 तन्त्र में उन्होंने  
 रहे यदि हम अ  
 जिस रंगमंच की  
 वस्तु के लिए पू  
 इस एक सामाजिक  
 प्रकट करना  
 दूर हट गया अ  
 यदि हम और  
 नाट्य-लेखन का  
 अर्थात् वे भी ज  
 नाटकों की ही  
 पदों वाले रंगमंच

की मकल और कुछ वहाँ के स्वजातीय  
 प्रारम्भ 'मिमेटर' की धारा ।  
 प्रारम्भ में अभ्यन्त किया था । इन  
 प्रारम्भ का । उन्होंने संस्कृत रंगमंच और  
 नाट्य-प्रकारों की रचना की वहाँ  
 काधार पर श्री 'भारत बुद्धि' और  
 श्री, तथा विभुव भोक्त-संघ की सहाय  
 का की शोध की । स्पष्ट रूप से  
 वैज्ञानिक और सांस्कृतिक, इन दोनों  
 का अपना नाट्य और रंगमंच क्या  
 व्यवस्था के रंगमंचों को आधार बना-  
 सौच रहे थे । इसके लिए उन्होंने  
 के लिए तथा नाटकों को रंगमंच की  
 में दो तन्त्र उत्प्रेक्षनीय हैं ।  
 पारसी मिमेटर के शास्त्रात्मिक  
 मध्य-देश, अर्थात् हिन्दी भाषी  
 रूप है, बीसवीं शताब्दी के पहले  
 वैज्ञानिक रंगमंच से दूर हटकर ।  
 अपने को खड़ा कर देना और  
 नाटक को रंगमंच की तुलना  
 नाटक की । यही वह सुनियोजी  
 रंगमंच के क्षेत्र में जाने एक  
 नाट्य-कृति में उसका अपना एक  
 नाटक में उसका रंगमंच सिद्ध था  
 अपना रंगमंच स्थापित था । इस  
 से शरीर में अस्ति और पंजर  
 के प्राण और आत्मा की कल्पना  
 सत्य के किसी नाट्य-कृति की

किर की यदि हम अवशंकर प्रसाद के नाटकों का अध्ययन करें और  
 उन नाटकों के भीतर छिपे हुए रंगमंच का पुनर्जागरण करें तो हमें कई बातें  
 स्पष्ट विचारणीय होती हैं । प्रायः विद्वानों में अवशंकर प्रसाद के नाटकों का  
 'सांस्कृतिक अध्ययन' करके ही यह कहा है कि उनमें संस्कृत और रोमन्सिस्टिक  
 दोनों नाट्य-शक्तियों का सुन्दर सम्मिश्रण है । इसके लिए विद्वान् शोध एक मात्र  
 उपाय है कि प्रसाद ने अपने नाटकों की आत्मा में दो आत्मार्थ प्रतिष्ठित  
 कीं । प्रसाद संस्कृत की रस आत्मा और दूरची परिचय की संघर्ष आत्मा ।  
 लेकिन वाहिर है किसी भी अस्तित्व में दो विरोधी आत्मार्थ कैसे रह सकती  
 हैं ? वहाँ संघर्ष होगा वहाँ रस नहीं होगा, और वहाँ रस होगा वहाँ संघर्ष नहीं  
 होगा । कुछ विद्वानों ने इसके स्पष्टीकरण में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया  
 है कि रस 'प्रसाद' के नाटकों की आत्मा ही है और संघर्ष उनके नाटकों में  
 प्राप्त धारा है । प्रसाद के नाटकों का यदि साहित्यिक और रंगमंचीय अध्ययन  
 किया जाए तो वास्तव में यह दोनों तन्त्र किसी स्तर से अलग प्रकट होते हैं ।  
 लेकिन वही उनके समूचे नाट्य-साहित्य का विरोधाभास भी है । उनके नाटक  
 फलतः साहित्यिक या सांस्कृतिक होकर रह जाते हैं । उनमें अपने रंगमंचीय  
 पक्ष कीय या गौण पक्ष जाते हैं । सच्ची बात यह है कि प्रसाद ने 'रोमन्सिस्टिक'  
 का रंगमंच न सह्य कर कुछ पारसी रंगमंच का तन्त्र ग्रहण किया था । इस  
 तन्त्र में उन्होंने अपना साहित्यिक व्यवहार सांस्कृतिक तरल प्रकट करना चाहा ।  
 इसे यदि हम और स्पष्ट करें तो कह सकते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों में  
 जिस रंगमंच की कल्पना की वह पचीं वाला रंगमंच था जो उनके नाट्य-  
 वस्तु के लिए पूर्णतः अपर्याप्त था । पचीं का रंगमंच एक आभासी था और  
 इस एक आभासी रंगमंच में उन्होंने अपने तीन आभासी नाट्य-वस्तु को  
 प्रकट करना चाहा । फलतः उनका नाट्य-साहित्य सांस्कृतिक रंगमंच से  
 दूर हट गया और वहीं से साहित्यिक नाटक की परम्परा शुरू हो गई । जिसे  
 यदि हम और गहराई से देखें तो पाते हैं कि उस काल का पारसी मिमेटर,  
 नाट्य-लेखन अपने रंगमंच के अनुकूल जो कथा-वस्तु निर्मित करता था,  
 यद्यपि वे भी अवशंकर प्रसाद की तरह पौराणिक, ऐतिहासिक तथा रोमांटिक  
 नाटकों की ही श्रेणियों में करते थे, लेकिन पारसी रंगमंच के कलाकार अपने  
 पचीं वाले रंगमंच की सीमा और मर्यादा को अस्वीकारिता जानते थे ।

## जयशंकर प्रसाद का नाट्य

प्रसाद ने जिस समय हिन्दी नाट्यक्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय यह युग सूजन स्तर से भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी युग की काव्य चेतना और शुद्ध रंगमंचीय स्तर से पारसी रंगमंच से प्रभावित थे।

पर ऐतिहासिक दृष्टि से एक विचित्र सत्य या तथ्य उनके सामने था। उनके समय तक जाते जाते भारतेन्दु का नाट्यभेदना और उसका रंग प्रभाव प्रायः समाप्त हो चुका था। हिन्दी की एवेबर नाट्यमंथलियाँ सरल, सस्ते, हल्के नाटक ही खेलने में समर्थ थीं। इससे भी ज्यादा, उन पर उस काव्य का अरपन्ना चक्रिवाली, प्रभावपूर्ण पारसी थियेटर का ही प्रभाव था। बल्कि यही कहना चाहिए कि उसी की छत्रछाया में, उसी नरगर वृक्ष की छाया में हिन्दी की लोकिया रंगमंथलियाँ साँस ले रही थीं।

पर एक सौभाग्य भी निभा प्रसाद को। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया और राष्ट्रीय संग्राम, भारतीय स्वतंत्रता के संघर्षों से उत्पन्न राष्ट्र के दायित्व की स्वच्छित उमंगों ने छायावाद को अन्त दे दिया था।

पर यह सब परिवेश की शक्ति थी। बाहरी स्थितियाँ थीं। इनके भीतर स्वयं प्रसाद का सूजनकारी व्यक्तित्व क्या था, उस पर अपने क्या क्या संस्कार कार्य कर रहे थे, कला, काव्य और सौन्दर्य के बारे में उनकी अपनी आंतरिक स्थिति क्या थी, इसका परिचय महत्वपूर्ण है।

### प्रसाद के सौन्दर्यबोध मूलक संस्कार

'प्रसाद' का बचपन भारतेन्दु की कीर्ति और उनके गौरवपूर्ण साहित्य की छाया में बीता। भारतेन्दु की मृत्यु के बार वर्ष बाद प्रसाद का जन्म हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में, पिता के देहान्त के उपरान्त उन्हें स्कूल की पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी और घर ही पर उन्हें दोनबन्धु ब्रह्मचारी-द्वारा संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके उपरान्त उन्हें वेद, उपनिषद् महाकाव्यों के पढ़ने

की सर्वसुलभ परिस्थिति  
भरिका और पुस्तक  
इस मनोभावों का तब  
काम्नात्मक दृष्टिकोण।

काव्य के संबंध  
इसके एक ओर साहित्य  
और इनकी काव्य-प्रति  
साहित्यिक संस्कार का  
"काव्य आत्मा की  
विकल्प या विज्ञान से  
है। विशेषतः आत्मिक  
कारण व्यक्तता की मन  
निःसन्देह प्राणमय  
परिपूर्ण होती है। इस  
एक इच्छा कवि का  
साहित्यिक संस्कार  
साहित्य की समस्त  
महाकाव्य में इनका  
क्योंकि इनके साहित्य  
दिया था।

यह सभ्य प्रस  
संस्कृत-व्यक्त अनुभूति  
इच्छा कवि का सुन्दर  
के नाट्य का उद्गम  
है। इसका समुच्च  
और भावविन्दु है,  
के समीप।

इस तरह प्रसा  
नाटक की परिष्कृत

१. काव्य की

की सर्वोत्तम परिस्थिति मिली। अतएव इसके हृदय में भारतीय संस्कृति की परिभा और पुरस्चन की मर्यादा दोनों तत्त्वों ने अपूर्व स्थान प्राप्त किया। इन मनोभावों का सम्पर्क जब इनकी काव्य-प्रतिभा से हुआ, तो इनका काव्यात्मक दृष्टिकोण बहुत ऊँचे स्तर पर स्थापित हुआ।

काव्य के संबंध में इनकी अपनी खलज कड़ोटी बन गयी, जिसमें इनके एक ओर साहित्य और शिक्षा के संस्कार कार्य कर रहे थे, तथा दूसरी ओर इनकी काव्य-प्रतिभा कार्य कर रही थी। इन दोनों ने इनमें एक अलग साहित्यिक संस्कार का अन्म किया, जिसकी मान्यता बहुत ऊँचे स्तर की थी, "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विरलक्षण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है, वह एक श्रेयस्वी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विरलक्षणतात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से विभक्त न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमय और सत्य के उभय सञ्चल, प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है। इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक प्रष्टा कवि का शीर्षक है, दर्शन है।" इस तरह प्रसाद के ऊँचे साहित्यिक संस्कार ने इनमें काव्य की परिष्कृत भावनाओं को जन्म दिया। साहित्य की समस्त विधाओं, नाटक, कहानी, काव्य, खंडकाव्य और महाकाव्य में इनका दृष्टिकोण विस्तृत रसात्मक और दार्शनिक हो गया, क्योंकि इनके साहित्यिक संस्कारों ने उस शब्द से इनको अभिभूत कर दिया था।

वह संभव प्रसाद के मन में निश्चित हो गया था कि काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है और साहित्य का आरम्भ काव्यमय है, और काव्य-प्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। काव्य की इन्हीं परिष्कृत भावनाओं में प्रसाद के नाट्य का उद्गम होता है। इनका संस्कार विस्तृत स्वतन्त्र और अपना है। इसका समूचा भावपक्ष काव्यात्मक है इनके नाट्य के पीछे भी प्रेरणा और भावबिन्दु है, वह एक ओर काव्य के समीप है, और दूसरी ओर कथा के समीप।

इस तरह प्रसाद के नाट्य की सृष्टि और उनका उद्गम, काव्य और नाटक की परिष्कृत भावनाओं से हुआ है, नाटक का सामान्य सीमा में नहीं।

१. काव्य और कला तथा काव्य विषय—प्रसाद, पृष्ठ १७, १८।

प्रभाव के नाट्य के अध्ययन में हमें निश्चय ही इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा।

प्रसाद के व्यक्तित्व का मूल धरातल समन्वय है। कल्पना-वृत्ति ही प्रसाद के समस्त काव्य-रूपों का मूल स्रोत है, वहीं भाव-पद्य और शैली पद्य का संगम है। कल्पना की आवाज-धूमि पर जब आदर्श तत्व के साथ संबंध का संयोग होता है तब प्रसाद की काव्य सृष्टि होती है, जब इस कल्पना में वर्तन और अतीत का संयोग होता है, तब नाटक की सृष्टि होती है। प्रसाद का साहित्य—कल्पना आदर्श, परिष्करण, संगीत, दर्शन, अतीत और मनोविज्ञान के समन्वयपूर्ण धरातल पर स्थिर है। इस तरह हम कहते हैं कि प्रसाद के समस्त काव्य-रूपों के आवाज-तत्व एक से हैं; केवल उनके सामान्य फलों और रूपों में विभिन्नता है। यही कारण है कि प्रसाद के नाटकीय संवाद उनके गीत स्तर से अधिक प्रेरित होकर गद्यबोध हो गये हैं।

एक तरह से प्रसाद का नाटककार उनके कवि व्यक्तित्व का ही एक पूरक आकार है। पर इसका एक अबाधक और गहन स्वरूप है प्रसाद के नाटककार व्यक्तित्व में। मैथिलीशरण गुप्त के काल से लेकर आगे तक जो राष्ट्रीय, सामाजिक, नैतिक, सौन्दर्यमूलक केलना कार्यरत थी और जिसकी अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से उस काल के कवि कर रहे थे, वही, उन्हीं आदर्शों की अभिव्यक्ति प्रसाद अपने नाटकों के माध्यम से कर रहे थे।

पर यह तो एक मुदक आवाज का प्रसाद के नाटकों की कथानसु के लिये। इसमें जो सृष्टि हुई है—यह है आत्मधर्म, पन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, भालविकार, देवसेना, प्रवृत्तबानिनी, कोमा आदि चरित्रों के माध्यम से नये मानव मूर्तियों की प्रतिष्ठा। उस समय जिस राष्ट्रीय, राजनीतिक धरातल पर तिलक, गोखले, रामाडे और गाँधी तथा बाद में नेहरू अपने भारत में नये भारत को तनावा रहे थे और उसे नया राजनीतिक अर्थ देना चाह रहे थे, ठीक उसी तरह प्रसाद बहुमुख सांस्कृतिक धरातल से उसी नये भारत के मर्म और अर्थ को उद्घोषित कर रहे थे, और उसे अपने ही हंग से प्रतिष्ठित कर रहे थे। अपनी रुमाभा श्रुति, तथा अपने राष्ट्रीय विनवासों के धारण अपने सारसामयिक संदर्भों और भटनाओं, कार्य पत्रों की अतीत और इतिहास के माध्यम से, उसी स्वर्णिम अतीत, सन्हीं महत् विनवासों के स्तर से देखने की

संश्लेषण कर रहे थे।  
कहाँ भी एक सत्य  
विभिन्न स्तरों से  
प्रसाद के नाटकों में  
कहीं नुक इतिहास अ

प्रसाद का का  
मनमानस राष्ट्रीय  
सभी नाटकों में, वि  
और अभिव्यक्ति के  
भय मानस कहाँ है ?

हरमसब प्रसाद  
संस्कारों के कारण  
के लिये जिन पृष्ठों से  
उसी आभिजात्य की  
सही तरह के चरि  
आभिजात्य, सामंतीय  
प्रतिक्रियावादी है, न  
सुपबोध है—यही स  
के नाट्य से ऊपर उ  
नाटककार का वर्तन के  
इधर के अधुना  
की रचनाओं के स्वत

सबसे प्रथम, उन्  
'उर्ध्वशी' कथानाटक का  
भारती विवेचन और  
है।

१. हिन्दी साहित्य  
समा प्रकाशन, प्र० ७

कोलित कर रहे थे। और अंग्रेजी संस्कृति के आक्रामक बहाव के कारण यहाँ जो एक सांस्कृतिक बलिदान उदयमान हुआ था, उसे अपनी चेतना के विविध स्तरों से लोकापना चाहा था। इन्हीं तथ्यों, प्रेरणाओं के ही कारण प्रसाद के नाटकों में कहीं स्वछन्दतावाद है, कहीं सम्मानित, कहीं दर्शन तो कहीं कुछ इतिहास और कहीं प्रत्यक्ष उद्घोषण और कहीं कुछ यथार्थ बोध है।

प्रसाद का काल था—स्वतंत्रता संग्राम का वह परण, कहीं भारतीय जनमानस राष्ट्रीय चेतना और गौरव से अभिभूत था। प्रकृत है प्रसाद के कभी नाटकों में, जिसकी कथावस्तु युद्ध, प्रेम, क्षुधा, वृथा, त्याग, वीरता और नसिदान के अनुष्ठानों और भावों से परिपूर्ण है, उसमें वह संघर्षशील जन मानस कहाँ है ?

इसप्रकार प्रसाद अपने काव्यकला के प्रतिमानों और सौन्दर्यबोधमूलक संस्कारों के कारण जन में ऊपर जातिजात्य बर्ष से ही सम्पृक्त थे। इतिहास के सिने जिन पुस्तों से जन्माओं से उन्होंने अपनी नाटकीय कथा ली, स्वभावतः यही जातिजात्य जीवन स्तर, आदर्श और जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति उसी तरह के चरित्रों से संभव था। पर प्रसाद का सारा नाट्य-संगार, जातिजात्य, सामंतीय परिवेश और बलात्करण के वास्तव्य, कहीं से भी न तो प्रतिक्रियावादी है, न संकीर्ण है न संकुचित है। इसमें सर्वत्र यथार्थबोध और बुगबोध है—यही सत्य प्रसाद के नाटकों को एक और पारसी विधेटर के नाट्य से ऊपर उठव जाता है, इसीलिए और यही सत्य प्रसाद को बहुत्वपूर्ण नाटककार का दर्जा देता है।

इसके अद्युक्तानन अनुसंधानों से पता चलता है कि नाटककार प्रसाद की रचनाओं के सूचन सोमान काकी पीछे से आगे, ऊपर बड़े हैं।

सबसे प्रथम, उन्होंने 'उर्वशी' नामक कथा नाटक की रचना की है। 'उर्वशी' कथानाटक की विद्या में भारतेभुकासीन नाटक, उनके समसाधारणक पारसी विधेटर और लोकनाट्यमंच मौलियों का मिश्रित उपयोग किया गया है।

१. हिन्दी साहित्य का सुसुत इतिहास (एकादश भाग) नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन, प्र० संस्करण, पृष्ठ १४३

विषय ही इस तथ्य को स्पष्ट में

। कल्पना-वृत्ति ही प्रसाद कहीं साध-यज्ञ और मौली यज्ञ का संगम आदर्श तन्त्र के साथ संगीत का संयोग होती है, जब उस कल्पना में दर्शन नाटक की सृष्टि होती है। प्रसाद का संगीत, दर्शन, अतीत और अनोविज्ञान है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रसाद एक से है; केवल उनके सामान्य यहाँ कारण है कि प्रसाद के नाटकीय संवाद गद्यगीत हो गये हैं।

। नाटककार जनके कवि व्यक्तित्व का ही एक व्यापक और गहन स्वरूप है प्रसाद युद्ध युद्ध के काल से लेकर आधे तक जो सर्वमूलक चेतना कार्यरत थी और जिसकी उस काल के कवि कर रहे थे, वही, उन्हीं नाटकों के माध्यम से कर रहे थे।

इसका प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु के वह है वाचन्य, चन्द्रमुख, स्वच्छमुख, कोमा आदि चरित्रों के माध्यम से नये समय जिस राष्ट्रीय, राजनीतिक घरातल गौरी तथा बाव में नेहरू अपने भारत में नये तथा राजनीतिक अर्थ देना चाह रहे थे, सांस्कृतिक घरातल से उन्ही नये भारत के अर्थ से अपने ही दंग से प्रतिष्ठित कर रहे थे। नये राष्ट्रीय विरवासों के कारण अपने नों, कार्य चरित्रों को अतीत और इतिहास के उन्हीं गहन विरवासों के स्तर से देखने की

इसके उपरान्त 'नभ्रुवाहृत' नामक रचना का क्रम आता है। 'दधुवाहृत' की रचना तो चिन्तक पारसी निवेटर के नाटकों के समानान्तर हुई है। कथानक, चयन, प्रतिपादन, शैली सभी दृष्टियों से वह आनाहुय कश्मीरी के 'अस्तम सोहराम' के समकक्ष रखी जा सकती है।<sup>१</sup>

प्रसाद के नाट्य का अगला सोपान उनके एकांकियों (?) में मिलता है :

सम्बन्ध  
प्रायश्चित्त  
कल्पनासय  
कल्पानी परिणय

इन कृतियों को सामान्यतः एकांकी हसीलिये कहा गया कि ये उखी बिछा के समीप हैं। पर वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें एकांकी नहीं कहा जा सकता। मूल कारण यह कि इनमें अकार्यबोध और संघर्ष का पूर्ण अभाव है। इनकी कथा पर कुछ पुनरुत्थानवादी चेतना का आघात है और नाट्य-कल्प पर एक ओर संस्कृत के लघु नाट्य प्रकारों का प्रभाव है तो दूसरी ओर पारसी निवेटर का।

#### प्रसाद का प्रतिनिधि नाटक

प्रसाद के वास्तविक नाट्य का लोभ इतिहास है। 'राजश्री' की भूमिका में प्रसाद ने लिखा है कि 'मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक मानता हूँ।' यह सच है कि पारसी रंगमंच के ऐतिहासिक नाट्य से सर्वथा अलग और असमान, राजश्री में पहली बार भारतीय भारत के प्रारम्भिक इतिहास और साहित्य ग्रन्थों से सामग्री ग्रहण की गयी है। इसमें घटित घटनाओं का मुख्य आधार है 'दूर्व चरित' और ह्येनसांग का भारत यात्रा वर्णन। पर 'राजश्री' पर कल्पना, मायुकाद के अंश और तत्त्व इतिहास तत्व से कई ज्यादा गुने हैं।

'विशाख' का आधार तो अर्धऐतिहासिक अर्थ है ही। फिर भी इसको कथा-वस्तु कहण कृत 'राजतरंगिणी' के आधार से ली गयी है।

'अज्ञातशत्रु' का फिर ठीक आधार ऐतिहासिक है। इसमें मगध, बुद्ध, अजातशत्रु, पत्त, उस समय के सोलह जनपदों के नाटकीय प्रसंग हैं। कुछ विना कर इसमें इतना इतिहास, इतने तत्कालीन संदर्भ और सच

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, एकादश भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, प्र० संस्करण, पृष्ठ १४५-१४६।



ता का जन्म था है। 'बभ्रुवाहन'  
के नाटकों के समानान्तर हुई है।  
केटियों से यह वाक्यांश करमीरी के  
है।  
एककिप्यों (?) में मिलता है :

ये कहा गया कि ये उन्नी विधा  
को नहीं कहा जा सकता। मूल  
का पूर्ण अभाव है। इनकी कथा  
और नाट्य-शिल्प पर एक ओर  
सूत्रों को पारशी मिथेटर का।

हृष्य है। 'राजश्री' की भूमिका  
ऐतिहासिक रूपक मानता है।  
के नाट्य से सर्वथा अलग और  
त के प्रारम्भिक इतिहास और  
समय में पटित घटनाओं का मुख्य  
का नाम वर्णन। पर 'राजश्री'  
के तत्त्व से कई ज्वाला बुने हैं।  
अन्त है ही। फिर भी इनको  
के भी गये है।

दिक है : इनमें मराठ, बुद्ध,  
के नाटकीय प्रसंग हैं। कुल  
कासीन संदर्भ और तथ्य  
का भाग, नाटकी प्रचारिणी



नाट्य वेणु, स्कूज आक ड्रैमैटिक आर्ट्स, उजाहाराव द्वारा प्रस्तुत 'रत्नकमल'  
में महमीनारायण लाज, विमल कुमार और शम्भुलाल गुप्त।



- ↑ नेहरून-स्कूल आफ ड्रामा, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'युगलक' में मोय भिवपुरी और मोहन महर्षि ।
- ↓ अनामिका, कलकत्ता द्वारा प्रस्तुत 'दर्पन' में वैशना तिवारी



समर्पित द्वारा  
र का 'आवरा व

र, दिल्ली द्वारा  
ही' में गोपाल  
।



दिल्ली, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'सुयत्नक' में मोक्ष  
की ओर मोहन महल्लि ।

दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'दरपन' में जेतना तिवारी



दिल्ली द्वारा निर्मित नया  
दिल्ली का 'अगरा बाजार' ।



दिल्ली द्वारा प्रस्तुत  
दिल्ली में गोपाल भापुर मोर  
दिल्ली ।



नया विघेटर,  
दिल्ली द्वारा प्रस्तुत  
'रक्षम सोहराब'।  
← एन.टी.जी., दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत 'कौन  
पता कौन पिता  
मुन्हारे' में वेद  
सिन्हा, जैमिनी  
कुमार और सविता  
बजाव ।

संवाद, दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत 'दुर्गा  
जनमेजय' में ओम  
शिवपुरी और  
रामगोपाल बजाव  
→



दिशान्तर, दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत  
'आगाड़ का एक  
दिन' में ओम  
शिवपुरी, सुभा-  
शिवपुरी और बी०  
एम० बहोज ।  
↓



पविशान, दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत  
'करमयू' में कविता  
नागपाल और  
अणोक करीन ।  
←



रखा विमैटर,  
दिल्ली द्वारा प्रस्तुत  
'दस्तावेज सोहराव'।

← एल.टी.जी., दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत 'कौन  
माला कौन पिला  
सुझारे' में बेव  
विन्हा, जैमिनी  
कुमार और सविता  
बजाव ।



संवाद, दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत 'गुनो  
गममेकथ' में ओम  
शिवपुरी और  
रामगोपाल बजाव →



विशान्तर, दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत  
'अपवाद का एक  
दिव' में ओम  
शिवपुरी, सुध:-  
शिवपुरी और वी०  
एम० बटोला ।



अभिनय, दिल्ली  
द्वारा प्रस्तुत  
'कराधु' में कविता  
नागपाल और  
अशोक मरीच ।





दरभन, कानपुर द्वारा  
प्रस्तुत 'मिस्टर  
अभियन्त' में शक्तिश  
वर्मा और प्रमोद  
बाजा ।

←

नंवरद, दिल्ली द्वारा  
प्रस्तुत 'मिस्टर  
अभियन्त' में दिनेश  
राकुर और माधवी ।

↓



नेशनल स्कूल अफि इंग्लिश  
दिल्ली द्वारा प्रस्तुत  
'सूर्यमुख' में रोहिणी ओ  
और श्रीमपुरी ।

↓ दिज्ञान्तर, दि



दर्शन, कानपुर द्वारा  
 प्रस्तुत 'मिस्टर  
 अभिमन्यु' में राकेस  
 वर्ण और प्रमोद  
 वाला ।

←

नेशनल स्कूल आफ ड्रामा  
 दिल्ली द्वारा प्रस्तुत  
 'सूर्यमुख' में रोहिणी शोक  
 और गोमपुरी ।

→



महात्मा, दिल्ली द्वारा  
 प्रस्तुत 'मिस्टर  
 अभिमन्यु' में दिनेश  
 शर्मा और माधवी ।

↓

↓ दिशांतर, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'आधे-अधूरे' में मुधा और अनुराधा ।





† जयिवाल, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'अब्दुल्ला जीवनी' में कविता  
साकारान्त और हरीश कश्यप ।

‡ प्रयाग रेकमंड इन्सट्रुमट्स द्वारा प्रस्तुत, 'एक विधिति' में  
जीवनलक्ष्य गुप्त और सुमन



है कि माता  
बिठना क  
होगा ।

'जन्म  
हुआ पर  
तर्कों पर  
रचना है

संस्कृतपूर्ण

पर

स्वयं

चन्द्र

ध्रुव

और

का । 'अ

बड़ी यज्ञ

प्रतिष्ठा

इसमें

साथ अपने

से मुक्त है

इसमें

समृद्धि के

पक्षी या

है । सभी

सबसे धर्म

करवावत

प्रति

फलस्वल्प

५





'सधुस्मा वीराना' में कविता  
का काव्य ।  
परा प्रस्तुत. 'एक स्थिति' में  
और कुमन



है कि नाटक का सारा ही जैसे बंध गया है। शायद अभी इसका कथानक चित्तना अटिस और संश्लेषण है कि इसमें नाटक को बुँदना अक्षर्य प्रमास होवा ।

'अनसूया का नागसज' निरूप्य हो 'अनासनाज' से बहुत पङ्के का सिखा हुआ जात पङ्का है, पर बुँकि इसमें पीरानिकता के भावबुद्ध प्रपार्यभावी तत्वों पर अतिक व्याग्रह है, इसलिये प्रायः अम होता है कि यह बार की रचना है । क्योंकि इसमें प्रसाद की बाहुकता, रमानिमत बहुत ही कम है ।

### महत्त्वपूर्ण नाट्य

पर प्रसाद के नाट्य के महत्त्वपूर्ण कृतित्व है :

स्कन्दगुप्त  
भद्रगुप्त और  
धृवस्वामिनी

और इन तीनों नाट्यकृतियों में भी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है स्कन्दगुप्त का । 'अनसूया के नागसज' में प्राचीन चेतना जिस अरातल से शुरू हुई थी, वही वहाँ स्कन्दगुप्त में अपनी सम्पूर्ण व्यापकता और गहनता से चरमसीमा पर प्रतिष्ठित हो गयी ।

इसमें छायावादी रमानी चेतना, अपनी पूरी कल्पना, सृजनात्मकता के साथ अपने युग और काल के नैतिक, सांभातिक, बार्शनिक रागात्मक संवेदनाओं से युक्त होकर मानवीय हो गयी ।

इसकी कथावस्तु कुमारगुप्त के राज्यकाल से गुप्त साम्राज्य के वैभव और समृद्धि के भीतर से ली गयी है । पर विशेष बात यह है कि इसकी कथावस्तु पहली बार भरसक पूरी साबधानी और नाटक तत्वों के परिप्रेक्ष्य में स्थापित है । तभी इसमें अपेक्षाकृत ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग सबसे कम है । और सबसे अधिक उपयोग है कल्पना नाटकीयता, मानवीय सौन्दर्यबोध और कल्पनात्मकता का ।

प्रसाद ने जिस सूक्ष्म दृष्टि से और अपने तमसामयिक राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप जिस मानवीय संदर्भ से स्कन्दगुप्त के चरित्र की सृष्टि की है, वह

आधुनिक हिन्दी नाट्य में अपूर्व है। प्रसाव ने इसके व्यक्तित्व का निर्माण आन्तरिक और विदेशी आक्रमणों की विरुद्ध परिस्थिति के बीच ही शुद्ध भारतीय कर्मव्यवस्था के धरातल से किया है।

एक ओर इसमें प्रसाव के रंगमंच की मूलक मिलती है—(यद्यपि पारसी चियेटर के ही रंगतत्वों के भीतर से इसकी रचना है।) तो दूसरी ओर यही यह अकेला नाटक है जिसमें कथा, चरित्र, रूपबंध, चेतना और भावना का सुन्दर समन्वय स्थापित है।

स्कंदगुप्त से फिर अज्ञान चन्द्रगुप्त की कथा इतिहास के प्रसिद्ध प्रसंगों की कथा है। चाणक्य प्रसंग, मौर्यजाति, शिकन्दर का आक्रमण, मौर्यवंश का अन्तर्निरोध, नन्दवंश, चन्द्रगुप्त की विजय, चाणक्य की कूटनीति, ये सभी अनुक्रम प्रायः ऐतिहासिक तथ्यों के अनुरूप ही इस नाटक में प्रयुक्त हुए हैं।

प्रसाव ने इस नाटक में स्कंदगुप्त की अपेक्षा और सुवृत्तर धरातल पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में खपने समय की चेतना और मर्याद और आदर्शबोध की व्यक्तिक्रमि वेनी चाही है। पर यह उदमे सफल नहीं हुए हैं। इसका मुख्य कारण था—यही इतिहास सत्य और उत पर आरोपित पुनरुत्थान की चेतना। फलतः इसका कथानक अटिल, शिथिल और अनाटकीय हुआ है, दूसरे इयमें कथातत्व के रंग लमर आये हैं।

प्रसाव जो चायद इस नाटक को सद्गुणकाव्यात्मक नाटक बताना चाहते थे, पर उनमें मर्याद, निश्चित रंगबोध के अभाव ने और पारसी चियेटर के अस्वाभाविक उदाह ने इतनी असंगतियाँ—कथातत्त्व के आधार से, चरित्र विकास कम थे—पैदा की कि यह नाटक मानवीय, काव्यात्मक, सौन्दर्यबोध मूलक आधार सम्पत्ति के बावजूद उतना प्रभासपूर्ण और सफल नहीं बन सका।

'ध्रुवस्वामिनी' नाट्य समधी और रूपबंध की दृष्टि से, दूसरी ओर कथा-वस्तु और काव्यतत्वों के कारण उल्लेखनीय कृति है।

यह उतना ऐसा पहला नाटक है जहाँ उद्गोंने कथा का विस्तार अना-कथक रूप से नहीं किया। यह तही अर्थों में प्रसाव का आधुनिक नाटक है।

कुल तीन अंकों का नाटक। प्रथम अंक में ध्रुवस्वामिनी की उदासीनता और चन्द्रगुप्त के प्रति उसका प्रेम, दूसरे अंक में उसके सम्पूर्ण यथाथ स्थितियों का उद्घाटन और तीसरे अंक में ध्रुवस्वामिनी की मूर्ति।

सगाथा है, इस स्वतंत्रता के प्रथम क किया है।

प्रसाव का उदा से सम्बन्ध है कि उस चियेटर की पूर्वे वाले नाटकों में व्याप्त वि विषय से, सामने आ सत्थों को ध्यान में चाहिए—उदाहरण उमी इन नाटकों का

प्रसाद ने इसके व्यक्तित्व का निर्माण और परिस्थिति के बीच से खुद भारतीय

की समक मिसत्री है--(यद्यपि पारसी का रचना है।) तो दूसरी ओर यही रचना, स्वयं, चेतना और भावना का

का कला इतिहास के प्रतिष्ठित प्रसंगों का, तिर्यक का आक्रमण, मोरवंश का विजय, वाणिक्य की कूटनीति, ये सभी मुख्य ही इस नाटक में प्रयुक्त हुए हैं।

का अन्वेषण और दुष्टतर छरतल पर की चेतना और यथार्थ और आदर्शबोध की लक्ष्ये सफल नहीं हुए है। इसका मुख्य अर्थ पर आरोपित पुनरुत्थान की चेतना। अन्त और अनादिकीय हुआ है, दूसरे इसमें

का अन्वेषण के नाटक बनाना चाहते थे, का अन्वेषण ने और पारसी थियेटर के अन्वेषण के आधार से, चरित्र विकास आत्मबोध, काव्यारम्भ, सौन्दर्यबोध मूलक अन्वेषण और सफल नहीं बन सका।

की रूपरेखा की दृष्टि से, दूसरी ओर कथा-रचनात्मक है।

का अन्वेषण का विस्तार अन्वेषणों में प्रसाद का आधुनिक नाटक है।

अन्वेषण में प्रवृत्तमिनी की उदासीनता दूसरे अर्थ में उसके सम्पूर्ण यथार्थ स्थितियों के अन्वेषण की मुक्ति।

संगत है, इस नाटक का प्रसाद ने आधुनिक युग में रही मुक्ति, नारी स्वतंत्रता के प्रश्न को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देने का प्रयास किया है।

प्रसाद का सारा नाट्य किसी न किसी स्तर से इतने काव्यगुणों और उत्तमों से सम्भ्रत है कि उसकी परिष्कल्पना जैसे ही युग या स्वयं प्रसाद की पारसी थियेटर की पदों वाले यथार्थ और अतिनादकीय रंगरत्न से करते हैं, जैसे ही इन नाटकों में अत्यन्त विशेषात्मक—कथा और रूप से, रंग मिलन और संवेद्य वस्तु विषय से, सामने आ जाता है। वरन् प्रसाद के साथ पल, कथा और काव्य उत्तमों को रूपान में रखकर इनके नाटकों का सारा रूपरेखा अद्वयार्थवादी होना चाहिए—उदाहरण के लिये आकारवादी, प्रतीकवादी या अभिव्यञ्जनावादी। अभी इन नाटकों का अन्वेषण समाप्त आ सकता है।

□ □

## समस्या नाटक नहीं व्यथार्थवादी धारा

आधुनिक हिन्दी नाट्य परम्परा में सामाजिक नाटकों को समस्या नाटक की संज्ञा दे देना इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि सामान्यतः हिन्दी मनीषा में रंगमंच बोध का अभाव है। बोध अभाव, रचना और अभिनय, इन दोनों स्तरों पर।

क्योंकि प्रायःक नाट्य रचना में चाहे वह व्यथार्थवादी हो या अत्यव्यथार्थवादी, चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक, उसका बुनियादी आधार होता है— 'समस्या'। समस्या चाहे जैसी, जिसकी हो, पर समस्या ही मूल प्राण है किसी नाट्य रचना का।

सामान्यतः आधुनिक हिन्दी नाट्य में मुख्यतः लक्ष्मीनारायण मिश्र, छेठ बोलिन्दवास, जयसंकर भट्ट और जगन्नाथ 'जयक' को इसके अन्तर्गत रख लेते हैं। पर ऐसा सर्वथा अनुचित है, अवैज्ञानिक है।

'समस्या नाटक' जैसी अभिव्यंजना, संज्ञा इस क्षेत्र में संभव ही नहीं है। विद्वान हिन्दी अध्ययकों ने, जिन्होंने इस नूतन शब्द की, भाव बोध की सृष्टि की है, संभवतः इसके मूल को 'वर्नाक शा' की उस उक्ति से प्राप्त की है, जहाँ उसने 'इन्सेन' के नाटकों के बारे में अपना अध्ययन देते हुए सर्वथा एक अर्थ प्रसंग से उन्हें 'प्रकृतम श्वे' कहा था। पर क्या इन्सेन के 'पोस्ट', 'हाल्स हाउस' आदि नाटक समस्या नाटक हैं? इन नाटकों में व्याप्त सूक्ष्म काव्यतरंग, व्यक्ति परात्म पर उभरती हुई नासदी, चरित्रों की आत्मताओं में छिपे अंधकार और प्रकाश, भूत और वर्तमान, पराधीनता और स्वतंत्रता, मृशु और मुक्ति के संघर्ष और गहन दर्द को क्या कहियेगा? इसे किस संज्ञा में बाँधा जायेगा?

आधुनिक हिन्दी नाट्य परम्परा में व्यथार्थ के नाम पर मानवीय समस्या के नाम पर, प्रसंगों में केवल समस्या के बाह्य रूपों को ले लेना और उस समस्या पर काँद विवाद करना, भाषण देना, उपदेश देना और उसे 'प्रसाद',

'इन्सेन' की भी  
वर्षहीन है इन  
कहना।

दरसत अं  
'इन्सेन'  
समस्या है  
'इन्सेन'  
में संभवतः  
में तत्समा  
बहुत प्रसि  
है—भीत  
बहुत प्रसि  
विदे के अ  
त्मक सन्  
नकोपकृत  
शया है।

यहाँ एक  
भीतरी क  
विज्ञान,  
स्वरूप अ  
वदनात्मक  
मिथ्यजी

से है। 'संन्यस्त  
'आधी रात'  
को इस तरह  
बड़ी सीमा है  
स्वाओं के सन्  
मया है।

सामान्यत  
कही जा सकत  
पर अन्त

'इन्सेन' की भी तुलना में स्वयं धोखे कहना जितना बर्बरहीन है, उससे ज्यादा बर्बरहीन है इन नाटकों को 'इन्सेन' 'वेखोव' के प्रसंग में समस्या नाटक कहना !

दरसत अंतर क्या है, बुनियादी अंतर :

'इन्सेन' 'वेखोव' में समस्या नहीं, प्रश्न है हिन्दी में प्रश्न नहीं केवल समस्या है ।

'इन्सेन' 'वेखोव' में प्रश्नों से चरित्र स्वयं बूझते हैं । मित्र, जट्ट, दास में समस्या से चरित्र तपने नहीं पूछते जितने कि नाटककार सीधे हथ में लसवार घुमाते हैं ।

यहाँ प्रश्न भीतर है, समस्या बाहर है । यहाँ केवल समस्या ही समस्या है—भीतर और बाहर दोनों ओर ।

यहाँ प्रश्न को रंजमंसीय सम्पर्क दिया गया है । सब कुछ नाटक के मुहाने के भीतर से व्यक्त किया गया है । यहाँ ठीक उसके जल्द जैसे कलात्मक सम्पर्क में रखा गया है और सब कुछ पाठविद्यान के अन्तर्गत स्तोत्रकथन, भाव-विदाव, भाषाण, उपदेश के भीतर से व्यक्त किया गया है ।

यहाँ दृश्य विद्यान, रंगविद्यान, नाटक सृष्टि उसकी आन्तरिक गठन, भीतरी रूप, भाव कार्य का अन्तरंग, अविभाज्य अंग है । यहाँ दृश्य-विद्यान, रंगविद्यान भाव दिखाने का है । तथ्याकथित है । नाटक के स्वरूप और व्यक्तित्व से असंग, अप्रयुक्त, निर्बाध । मात्र समावृत्त का, घटनाक्रम और देश काल परिस्थिति के वर्णन-कथन का साधन ।

मित्रजी इस क्षेत्र के प्रतिनिधि नाटककार माने जाते हैं और निश्चित रूप से हैं । 'संवाली', 'राजस का मंदिर', 'भुक्ति का रहस्य', 'सिद्ध की होसी' और 'जाधी रात' उनके नाटक हैं । इन सभी नाटकों में, एक में अनेक समस्याओं को इस तरह मिला देना कि मूल समस्या ही नजर से ओझस हो जाय, यह बड़ी सीमा है इन नाटकों की । दूसरे इन नाटकों में समस्या को विभिन्न सभ-स्वाओं के सम्पर्क से कहा गया है, उसे नाटक में चरित्रों द्वारा बोने नहीं दिया गया है ।

सामान्यतः यह बात मित्र, सेठ और जट्ट इन तीनों नाटककारों के बारे में कही जा सकती है ।

पर अन्तर और उपसक्ति को ओझस नहीं होने देना चाहिए ।

में सामाजिक नाटकों को समस्या नाटक कहना है कि सामान्यतः हिन्दी में बोध अभाव, रचना और आत्मयत्न, प्रन

चाहे वह यथार्थवादी हो या अयथार्थवादी, फ, उसका बुनियादी आधार होता है— की हो, पर समस्या ही मूल प्राण है किसी

में मुख्यतः समीनाराधण मित्र, सेठ अन्वनाय 'अस्क' को इसके अन्तर्गत रख करैसाजिक है ।

जा, संज्ञा इस क्षेत्र में संभव ही नहीं है ।

इस नूतन छन्द की, भाव बोध की सृष्टि

की जो उत उक्ति से प्राप्त की है, यहाँ

में अपना आत्मयत्न देते हुए सर्वथा एक अन्य

पर क्या इन्सेन के 'घोस्ट', 'डाल्स हाउस'

नाटकों में स्थापित नूतन काव्यवृत्त, व्यक्ति

की आत्माओं में छिड़े अंधकार और

का और स्वतंत्रता, मूल्य और भुक्ति के

का ? इसे किस संज्ञा में बाँध आयेगा ?

में यथार्थ के नाम पर मानवीय समस्या

समस्या के बाह्य रूपों को ले लेना और उस

रूप देना, उपदेश देना और उसे 'प्रसाद',

विश्व जी के नाटक अपनी सीमाओं के बावजूद छेठ और मट्ट के नाटकों से सभी स्तरों पर बेहतर, मजबूत और एक छार, काट, लेखी सिधे हुए हैं। उनमें बुद्धिवाद का प्रभावशाली आतंक है, प्रभावशाली अनुभूति चाहे विलकुल ही न हो। इन्होंने अपने नाटकों से गद्य को निश्चित रूप से मोखा है और उस नाटकीय अभिव्यक्ति के योग्य बनाने में मजबूतपूर्ण कार्य किया है।

छेठ जी इन सभ्यता में प्रभाव के बाह्यो प्रभाव में ही रह जाते हैं। मट्ट जी का स्वान्तृय इन दोनों छोरों के बीच में है।

इन सबसे अलग अलग जी रंगमंच के कान्नी करीब हैं और उन्होंने 'अंजो सीवी', 'छठा देटा' आदि नाटकों में रंगमंच के मुहाजिरे और यथार्थवादी रूप-रचने के सीतर से रचना की है।

पर इतना निश्चित है कि इस यथार्थवादी छारा से (इसे समस्या नाटक कहना सब तरह से अन्यायपूर्ण है—इन नाटककारों के प्रति और स्वयं यह कहने वालों के प्रति) आधुनिक हिन्दी नाटक में यथार्थवाद की व्यापक प्रमिका तैयार हुई। नाट्य की बहु निरीक, बुद्धिवादी मुद्रा प्राप्त हुई, जिसके फल-स्वरूप स्वतन्त्रता के नाव नये नाट्य लेखन को भयासम्भव बन और आछार मिला।

□ □

नाटक में किस्म करने की परम्परा मानते लगे। कारण भूमि पर छिड़ा था उसमें भारतवर्ष की साथ ही इस स्वतन्त्र रहे थे। तथा व्यापक था। क्योंकि भारत सभ्यताओं तथा वि आछार को बुझना व परतंत्रता की बेहिये गांधी जी के नेतृत्व में तत्पर था। समस्त छोड़कर राष्ट्रीय स

इन सब भावने उचित ऐतिहासिक कार्यों ने अपनी विधि या देश में आंतरिक आवश्यक था।

योग्य भाषा के लाल ने की। उन्होंने इसी आंतरिक एतत् हो विषयवस्तु यह नाटक 'मिच्छा' पतन छरातल से की नहीं

में के बावजूद सेठ और मट्ट के नाटकों से एक धार, काट, लेपी लिये हुए हैं। उनमें प्रभावशाली अनुभूति चाहे बिलकुल ही न विनिश्चित रूप से माला है और उस नाट-रूपपूर्ण कार्य किया है।

बाहरी प्रभाव में ही रह जाते हैं। मट्ट जी है।

ह के काफी करीब हैं और उन्होंने 'अंधो रंगमंच के पुहाबिरे और यथार्थवादी रूप-

यथार्थवादी धारा से (इसे समझना नाटक के नाटककारों के प्रति और स्वयं मट्ट के नाटक में यथार्थवादी की व्यापक भूमिका बुद्धिवादी मूला प्राप्त हुई, जिसके फल-फलन को यथासंभव बन और आधार

□ □

## सांस्कृतिक-नाट्य-धारा

नाटक में किसी देश काल की पूरी सांस्कृतिक-विषयवस्तु बनाकर रचना करने की परम्परा हिन्दी में इतनी बढ़ गयी कि इसे लोग एक स्वतन्त्र धारा मानने लगे। कारण यह है कि स्वतन्त्रता के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन जिस भाव-भूमि पर खड़ा था और जिस तरह महात्मा गांधी उसका नेतृत्व कर रहे थे उसमें भारतवर्ष की राष्ट्रीय भावना को बगाने का एक बहुत बड़ा सक्षम था। साथ ही इस स्वतन्त्रता संग्राम में पुराने नैतिक और सामाजिक मूल्य भी बच रहे थे। तथा व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण का उदय उस काल में आवश्यक था। क्योंकि भारतवर्ष अपने ऐतिहासिक सत्य में विविध जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों तथा विभिन्न राष्ट्रों में बंटा हुआ था। इन सबके बीच एक ऐतज्य आधार को ढूंढना आवश्यक था। दूसरी ओर भारतीय नवरी जो सदियों से परतंत्रता की चेदियों में बन्तो थी, उसे भी भुक्त करके बाहर लाना था। क्योंकि गांधी जी के नेतृत्व में एक बड़ी संख्या में नारी समुदाय भी आजादी की लड़ाई में सत्पर था। समस्त बर्गों, जातियों, धर्मों के लोग अपनी-अपनी अक्षमता छोड़कर राष्ट्रीय घरातल पर आकर आजादी की लड़ाई में आए थे।

इन सब भावनाओं और सत्यों को चरितार्थ करने के लिए और उसे उचित ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दिशा देने के लिए इस काल के कई नाटक-कारों ने अपनी विशिष्ट नाट्य-रचनायें की। इन रचनाओं का केन्द्रीय उद्देश्य था देश में आंतरिक एकता की स्थापना, जो राष्ट्रीय आंदोलन के लिए परम आवश्यक था।

बंगला धारा में सबसे अधिक इस तरह के नाटकों की रचना दुजेश्वराम शाल ने की। उन्होंने मध्यकाल का इतिहास लेकर भारतीय संस्कृति का विश्लेषण इसी आंतरिक एकता के उद्देश्य से किया। उनके समस्त नाटकों में सर्वत्र एक ही विषयवस्तु यद् मिलता है—डोष और इशानुराव का संघर्ष। उनके प्रसिद्ध नाटक 'बेबाइ पतन' में देश की आंतरिक एकता, प्रतिष्ठा विगुड सांस्कृतिक घरातल से की गयी है।

ओं के भावपूर्ण सेठ और मट्ट के नाटकों से एक धार, काट, लेपी लिमे हुए हैं। उनमें प्रभावशाली अनुभूति चाहे बिलकुल ही न विनिश्चित रूप से होना है और उस नाट-रूपपूर्ण कार्य किया है।

बाहरी प्रभाव में ही रह जाते हैं। मट्ट भी है।

क के काफी करीब है और उन्होंने 'अंधों' रंगमंच के पुस्तकालय और यथार्थवादी रूप-

यथार्थवादी धारा से (इसे समस्या नाटक के नाटककारों के प्रति और स्वयं मट्ट के नाटक में यथार्थवाद की व्यापक भूमिका बुद्धिवादी युग प्राप्त हुई, जिसके फल-फलान को यथासंभव इन और बाजार



## सांस्कृतिक-नाट्य-धारा

नाटक में किसी देश काल की पूरी सांस्कृतिक-विषयवस्तु बनाकर रचना करने की परम्परा हिन्दी में इतनी बढ़ गयी कि इसे लोग एक स्वतन्त्र धारा मानने लगे। कारण यह है कि स्वतन्त्रता के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन जिस भाव-भूमि पर खड़ा था और जिस तरह महात्मा गांधी उसका नेतृत्व कर रहे थे उसमें भारतवर्ष की राष्ट्रीय भावना की बगाने का एक बहुत बड़ा संभव था। साथ ही इस स्वतन्त्रता संग्राम में पुराने नैतिक और सामाजिक मूल्य भी बचस रहे थे। तथा व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण का उदय उस काल में आवश्यक था। क्योंकि भारतवर्ष अपने ऐतिहासिक सत्य में विविध जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों तथा विभिन्न राज्यों में बंटा हुआ था। हर सबके बीच एक ऐतज्य आचार को बढ़ाना आवश्यक था। दूसरी ओर भारतीय नदरी जो सदियों से परतंत्रता की बेड़ियों में बन्धी थी, उसे भी मुक्त करके बाहर लाना था। क्योंकि गांधी जी के नेतृत्व में एक बड़ी संख्या में नारी समुदाय भी आजादी की लड़ाई में तत्पर था। समस्त वर्गों, जातियों, धर्मों के लोग अपनी-अपनी अक्षमता छोड़कर राष्ट्रीय धरातल पर आकर आजादी की सहाई में आए थे।

इस समय भावनाओं और इत्थों को चरितार्थ करने के लिए और उसे उचित ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दिशा देने के लिए इस काल के कई नाटक-कारों ने अपनी किंसाष्ट नाट्य-रचनायें की। इन रचनाओं का केन्द्रीय उद्देश्य था देश में आंतरिक एकता की स्थापना, ओ राष्ट्रीय आंदोलन के लिए परम आवश्यक था।

बंगला भाषा में सबसे अधिक इस तरह के नाटकों की रचना दुर्गेश्वराम शाल ने की। उन्होंने मध्यकाल का इतिहास लेकर भारतीय संस्कृति का विवेचन इसी आंतरिक एकता के उद्देश्य से किया। उसके समस्त नाटकों में सर्वत्र एक ही विषयवस्तु यद् मिलता है—डेव और डेवानुराग का संघर्ष। उनके प्रसिद्ध नाटक 'बेनाइ पतन' में देश की आंतरिक एकता, प्रतिष्ठा विद्युत् सांस्कृतिक धरातल से की गयी है।



हिन्दी में इस सांस्कृतिक एकता को स्थापना का सबसे अधिक अनुभव हरि-कुण्ड 'प्रेमी', सेठ गोविन्द दास और लक्ष्मोनारायण मिश्र ने दिया। इन तीनों नाटककारों ने अपने अग्रणी नाटकों की विषयवस्तु का चयन इतिहास के पृष्ठों से इस प्रकार किया कि उस काम की समुचित संस्कृति का ऐसा उच्चा-टन हो जहाँ यह सिद्ध किया जा सके कि भारतीय संस्कृति समरसता की संस्कृति थी और उसमें राष्ट्रीय चेतना ही प्रमुख थी। हरिकुण्ड 'प्रेमी' ने 'शिवा-साधना' की भूमिका में लिखा है— 'पंजाब में ज्ञान बाँसुरी और कर्म का रास फूलने वाली बहिन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों का एक-दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं। उन्हें मिमाने का प्रयत्न बहुत सीधे साहित्यकार कर रहे हैं। तुम्हें इस विद्या में प्रयत्न करना चाहिए। इसी सत्य को सामने रखकर उन्होंने मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया।' इसी तरह प्रेमी के 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिधोष', 'स्वप्न-मंग', 'मातृति' आदि में उसी एकता का प्रतिपादन किया गया है। इन नाटकों में उन्होंने यह दृष्टिकोण और भी ज्यादा स्पष्ट किया कि राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक एकता के बिना संभव नहीं, और सांस्कृतिक एकता तब तक सम्भव नहीं बन सकती, जब तक हिन्दू-मुसलमान, सिख-ईसाई, ब्राह्म-अब्राह्म एक-दूसरे के धर्म और संस्कृति का रहस्य, उदार दृष्टि से और मानवतावादी ढंग से प्रकट नहीं करते।

'रक्षा-बन्धन' नाटक में उन्होंने दिखाया है कि स्वर्गीय महाराणा संग्राम की पत्नी कर्मवती सुगतों के अभाव और वैरमान का किसी तरह घूसकर हुमायूँ के साथ भाई-बहिन का रिश्ता कायम करती है।

'मातृति' नाटक में बाबसाहू अल्ताउद्दीन मन्सूरगढ़ के पास एक घास में सुषतो पर कुछ होकर भीरमहिम से कहते हैं :

'उस जानी साखी बाखी लहकी को देखते हो ? सोचो, तुम मेरा काम करोगे ? उस लहकी से ... -'

इस तरह 'प्रेमी' के इस तरह के नाटकों के पास कुछ विशिष्ट राष्ट्रीय आदर्शों को अपना जीवन सत्य बनाकर बसते हैं और वे अन्ततः उन आदर्शों के ही प्रतिरूप बन जाते हैं।

सेठ गोविन्द दास का 'शिरसाहू' नाटक इसी परंपरा का एक विशिष्ट प्रतिरूप है। इसमें भी हिन्दू-मुस्लिम एकता और मुसलमानों की राष्ट्रीय चेतना का

अंकन हुआ है। इस नाटक हिन्दू-मुसलमान दोनों मित्रता के सुलतानों और शिरसाहू के बीच हुआ का नाम ऐसे भी है जो राष्ट्रीय चेतना 'शिरसाहू' का चिह्नसिद्धि से रेखांकित करता है— हुमायूँ में पला यहाँ की मित्रता देवने के लिए मेरे यहाँ के रहने वाले जाहेर वर है।

'कुलीनता' सेठ जी राष्ट्रीय धारा बहुत ही 'कुलीनता' पर अकुलीन एक तरह सेठ जी वर्ण विभागी है। उन्होंने देखा है। इस नाटक के अंत देकर अपने सत्य की प्रतीति सूची का एतदुनी देवभक्त कुले जन्म इस कुलीनता की घोष किया है।

उदयशंकर मद्रास जो का दूसरा नाटक 'मिनिन्द के प्रताप' पढ़ता है।

इसके अंतर्गत देव 'पुष्प-पर्व' को उल्लेख 'दायन सास बर्नी के इनमें 'गुरुजय', 'ना सहरे', 'मकदियव',

अंशक हुआ है। इस नाटक में शेरशाह कहते हैं— 'मैं चाहता हूँ इस मुल्क में हिन्दू-मुसलमान दोनों मिलकर बाहरी कौम का मुकाबला करें।' 'किर यह काम यहाँ के मुलतानों और राजाओं पर ही न छोड़ा जाय, बल्कि यहाँ की क्षम रिषाणा को भी इस काम में शामिल किया जाय।' इस नाटक में कुछ पात्र ऐसे भी हैं जो राष्ट्रीय चेतना से अलग विचार-धारा रखते हैं। उनके सामने 'शेरशाह' का निम्नलिखित संवाद इस सांस्कृतिक दृष्टि को बहुत ही स्पष्टता से रेखांकित करता है— 'मैं हूँ हिन्दी, इसी मुल्क में पैदा हुआ, यहाँ की आबा- हवा में पला यहाँ की मिट्टी से बना और इसी मिट्टी में मितूँगी। यहाँ से बाहर देखने के लिए मेरे पास कुछ नहीं। हिन्दुस्तान हो मेरे लिए सब कुछ है। यहाँ के रहने वाले बाहे नई किसी को मजहबी मुसलत के हों मेरे भाई बिरा- दर हैं।'

'कुलीनता' सेठ जी का दूसरा सांस्कृतिक नाटक है। इसमें ऐतिहासिक राष्ट्रीय धारा बहुत ही उच्चर कर आयी है। इस नाटक में सेठ जी ने 'कुलीनता' पर अकुलीनता की विषय विचार है। गांधी जी सभ्य अनुयायी थे। एक तरह सेठ जी वर्ण को ओष्ठता के विषयासी न होकर कर्म की ओष्ठता के विश्वासी हैं। उन्होंने इस नाटक में कुछ सभ्य कर्मयोग का चित्र देना चाहा है। इस नाटक के अंत में सेठ जी ने 'देवी संहार' का निम्नलिखित श्लोक देकर अपने सध्य की पूर्ति की है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा सवाभवहम्

देवामस्तं कुले जन्म, मदापत्तं तु पौष्टमम् ।

इस कुलीनता की इस समस्या को राष्ट्रीयता की समस्या से सेठ जी ने यथ विचार है।

उदयशंकर सट्ट का 'दाहर या सिध पतन' भी इसी वर्ण में आता है। सट्ट जी का दूसरा नाटक 'विक्रमाश्रित्य' भी इसी धारा का दूसरा उदाहरण है।

निर्मल के 'प्रचार प्रतिज्ञा' नाटक में भी राजनीति का यही रंग दिखाई पड़ता है।

इसके अंतर्गत केवल कर्मा उग्र का 'ईसा' और सिवारामशरण मुख का 'पुण्य-पर्व' भी उल्लेखनीय है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर सट्ट और कुंशबन श्याम वर्मा ने भी कई सांस्कृतिक नाटकों की रचनामें की है। इनमें 'गण्डवज्र', 'नारद की सीमा', 'दत्तात्रयमेघ', 'बन्धुराज', 'वितास्ता की सहरे', 'मकविजय', 'हंसमयूर' प्रसिद्ध हैं।

ना का सबसे अधिक अनुभव हरि-  
प्रायण मिश्र ने किया। इन तीनों  
कथयवस्तु का चयन इतिहास के  
समुचित संस्कृति का ऐसा उच्चा-  
क भारतीय संस्कृति समरक्षता की  
सुखी। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'सिवा-  
में ज्ञान बांगुरी और कर्म का अंध  
क मार मुझसे कहा था कि हमारे  
नों का एक-दूसरे से दूर करने वाली  
का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार  
ना चाहिए। इसी सधम को सामने  
कने का प्रवेश दिया।' इसी तरह  
'प्रतिकोष', 'श्वपन-भंग', 'आहुति'  
गया है। इन नाटकों में उन्होंने यह  
क राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक एकता  
का तब तक भवबूझ नहीं बन सकती,  
क-समूह एक-दूसरे के घर्म और संस्कृति  
कापी रंग से पहण नहीं करते।  
गया है कि स्वर्गीय महाराजा सीमा की  
भाव का किसी तरह भुलकर हुमायूँ के  
ही है।'  
इश्रीम मन्हासराज के पास एक क्षम में  
कै है :  
देखते हो ? बोसो, तुम मेरा काम  
नाटकों के पात्र कुछ विशिष्ट राष्ट्रीय  
कसते हैं और वे अन्ततः उन आवसों  
क इसी परंपरा का एक विशिष्ट इतिहास  
क सुखमयानों की राष्ट्रीय चेतना का

इतिहास-प्रसिद्ध जैन-मुक्त कासकाश्यामी को जीवन-वटना को लेकर कई नाटक लिखे गये, जिनमें तीन प्रमुख नाटककारों की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—उदय-शंकर भट्ट का 'शक विजय' (वि० २००६), सुन्दावनमाल धर्मा का 'हंसमयूर' और लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गणकवज्र' (संवत् २००५ वि०) तीनों नाटककारों ने इतिहास पन्थों के आधार पर जिन-मित्र रूप में इस जैन-गुरु का चरित्र-चित्रण किया है।

मिश्र जी के 'नारद की बीमा' में यह संवेचना ली गयी है कि सभ्यता और संस्कृति सदा असभ्यों और असंस्कृत बर्गों के हाथों परास्त होती है। इसी तरह मिश्र जी ने 'दशगुणेश' नाटक में कार्य-संस्कृति को बड़ी मौलिकता से प्रकट करना चाहा है। इसी तरह 'वितस्ता' की तरह, 'असोक', 'प्रतिभा मंग कर्ण' इन नाटकों में भी मिश्र जी ने भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन-दर्शन का चित्र जयसंकर प्रसाद से बिल्कुल अलग ढटकर देना चाहा है। इस सुन्दर में बा० जोषा की पुस्तक हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास का विघन-लिखित पठरण बड़ा दिलचस्प है—

मिश्र जी ने अपने प्रथम समस्या-नाटक 'संन्यासी' की भूमिका में यह कहा था कि 'इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वाञ्छनीय नहीं, पर अपनी इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध जो उन्होंने इतने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों को रचना कर आसी, इसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। इस सम्बन्ध में मार्तण्डाकरने पर उन्होंने बताया कि 'प्रसाद के नाटकों की प्रतिक्रिया में मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी।' उनका कथन है कि 'प्रसाद के नाटकों से भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन की जो हानि मुझे दिखाई पड़ी, उसके भाजी पीड़ी के पथ भ्रष्ट होने की भांशका मेरे भीतर उपजने लगी, उसके निराकरण के लिए मुझे ऐसे नाटक रचने पड़े, जिन में हमारे संस्कृति और जीवन-दर्शन का वह सत्य अणक उठे जो कालिदास और मास के नाटकों में पहले ही निरूपित है।

मिश्र जी का मत है कि प्रसाद के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्महत्याएँ करायी जाती हैं, संवाद में जो अस्वाभाविकता पायी जाती है, श्रेय की अभि-व्यक्ति में जो उम्मे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से जो श्रेष्ठ माना जाता है, कल्याण में जो उम्माद भरा जाता है, वह भारतीय नाट्य-पद्धति के विकृत है। इसी कारण वे अपने नाटकों में आत्महत्या, काल्यमय संवाद, प्रेमिकाओं के लम्बे भाषण और कौमार्य-महत्त्व एवं कल्याण में अतिरंजन को स्थान

वहीं देते। उन सम- और इस बात का जिनको वे गवोक्तियाँ

सुन्दावनमाल की उपधि की है।

कि 'हंस बुद्धि, जिने देख, बल और परा

'पूर्व की ओर' कथाओं, पूर्वी द्वीपों

बादण दीप का अति

इस मिलसिद्धे के

स्वक है। इस नाटक

धर्म से भी महान है,

जागृत करने की भा

उस प्रकार के विचारों

हमें किसको स्वीकार

को पाठकों तथा सर्व

है।' धारो चरकर से

सहारे राष्ट्रीय भावना

स्वतन्त्रता के म

'कोणार्क' एक नया

रखकर लिखा गया है

राज्यों की भाष्य-वि

सांस्कृतिक तारा

आधार पर किया जा

ध्यान में रख कर यह

वर्द्धन से सिद्धे गये के

इसका शीघ्र न अभिने

नाटक एक विशिष्ट

आय, यही इन नाटक

हैं। इनके भारतीय सं

विद्यालय के छात्रों त

जीवन-पटल को लेकर कई  
की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—जय-  
दासनसाह बर्मा का 'हंसमयूर'  
(संघ २००५ वि०) तीनों  
-मित्र रूप में इस जीवन-पुद्

नी गयी है कि सम्भवतः  
हाथों परास्त होती है। इसी  
प्रति को बड़ी मौलिकता से  
सहर्षे, 'अधोक', 'प्रतिज्ञा भंग  
इति और जातीय जीवन-  
हृदकर देना चाहते हैं। इस  
हमय और विकास का निम्न-

को भी धूमिलता में यह कहा  
उ युव के धार्मिक में वास्तविक  
जन्होंने इतने ऐतिहासिक और  
कोई न कोई कारण अवश्य  
जन्होंने बताया कि 'प्रसाद  
इतनी पक्षी।' उनका कथन है  
जातीय जीवन-दर्शन को जो  
प्रकट होने की आशाका मेरे  
ऐसे नाटक रचने पड़े, जिन  
श्लोक उठे जो कासिदास

रंगमंच पर जो आत्महृतपाएँ  
की जाती है, प्रेम की अभि-  
को विवाह से जो थोड़े भाता  
भारतीय नाट्य-पद्धति के  
शा, काव्यमय संवाद, प्रेमि-  
यथा में अतिरंजन की स्थान

वही देखे। अब समय आ गया है कि मिथजी के विचारों की गमीका की जाए  
और इस बात का निर्णय किया जाए कि देश और जाति के हित के लिये  
उनकी ये गर्वोत्थिता कहां तक उपयुक्त है।

द्वन्दासनसाह बर्मा ने 'हंसमयूर' नाटक में भारतीय-संस्कृति को 'हंसमयूर'  
की उपाधि दी है। इस नाटक के नायक इन्द्रसेन ने इसका आशय बताया है  
कि 'हंस बुद्धि, विवेक, प्रज्ञा, मेधा, शक्ति और संस्कृति का प्रतीक है,। 'मयूर'  
तेज, बल और पराक्रम का। दोनों का सम्मेलन ही वास्तविक संस्कृति है।

'पूर्व की ओर' बर्माजी का दूसरा सांस्कृतिक नाटक है, जहाँ उन्होंने जातिक  
कथाओं, पूर्वी ढाँचों में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर भारत  
वाचण ढीप का अति प्राचीन सम्बन्ध सिद्ध किया है।

इस सिलसिले में उदयशंकर भट्ट के 'एक विजय' का उल्लेख करना आव-  
श्यक है। इस नाटक में भी उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि—'आज देश  
धर्म से भी महान है, व्यक्ति और समाज में भी वृहत्तर है। इस भावना को  
जागृत करने की आवश्यकता है' देश की स्वतन्त्रता उसका मुख्य उद्देश्य है;  
एक प्रकार के विचारों के प्रचार में जो मानसिक अचेतुनक उत्पन्न होते हैं उनमें  
हमें किसको स्वीकार करना चाहिये और किसको अस्वीकार; इत्यादि बातों  
को पाठकों तथा सर्वसाधारण के सामने रखने के हेतु-स्वरूप मेरा यह सूत्र प्रयत्न  
है।' भागे चसकर सेठ गोविन्द दास का 'प्राणियुध' भी अतीत की कथा के  
सहारे राष्ट्रीय भावना और केन्द्रीय भासकों की व्यवस्था को ही व्यक्त करता है।  
स्वतन्त्रता के बाद के इस तरह के नाटकों में अश्वमेधवन्दन मायुर का  
'कोणार्क' एक नया उदाहरण है। यह नाटक पहली बार रंगमंच की ध्यान में  
रखकर लिखा गया है और इसमें अनता की उस शक्ति को उभारा गया है जो  
राज्यों की भाग्य-विधायािका है।

सांस्कृतिक धारा के इस तरह के नाटकों का अध्ययन यदि रंगमंच के  
आधार पर किया जाय तो हम पाते हैं कि इन नाटकों की रचना रंगमंच की  
ध्यान में रख कर नहीं की गयी है। ये नाटक शुद्ध रूप से पठन-पाठन के  
उद्देश्य से लिखे गये हैं। इन्हीं नाटकों में इतनी अधिक पाठ्य-सामग्री है कि  
इतका जोश न अभिनेता उठा सकता है और न निर्देशक। एक तरह से ये  
नाटक एक विशिष्ट सांस्कृतिक सामग्री को किसी तरह पाठक के सामने रखा  
जाय, यही इन नाटकों का मूल उद्देश्य है। इस उद्देश्य में ये नाटक सफल  
हैं। इनसे भारतीय संस्कृति पर काफी प्रकाश पड़ा है तथा कालेज और विप-  
विद्यालय के छात्रों तथा अध्यापकों को पठन-पाठन का उचित अवसर मिला है।

□ □

## गीति नाट्य की परंपरा

प्रस्तुत अध्ययन के समानान्तर हिन्दी नाट्य की एक विशेष धारा और रही है; जिसे हम हिन्दी में गीतिनाट्य अथवा काव्य-पूरक कहते हैं। इस क्षेत्र में बहुत बड़ी संख्या में नाट्य-कृतियाँ लिखी गई हैं और उनकी प्रचार और प्रसार भी हुआ है। इस रूप में इतना अधिक क्यों लिखा गया है कास्य यह हमारी परंपरा के काफी अनुकूल था।

हिन्दी में इस नाट्य-परंपरा का श्रीगणेश हम प्रसाद के 'कल्पनासय' से पाते हैं। 'कल्पनासय' से लेकर आज तक इस क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, सियारामभरण गुप्त, हरिकृष्ण प्रेमी, जयशंकर भट्ट, सुधियानन्दन पंत, रामधारी सिंह दिनकर और धर्मवीर भारती तक अनेक नाट्यकारों को हम पाते हैं। इन सब की गीतिनाट्य कृतियों को देख कर और अनुभव कर जो विशेष बात इस प्रयोग में सामने आती है वह यह कि इसमें बाह्यी क्रिया-क्रोशला और संघर्ष के स्थान पर मानसिक क्षियों के रूप व्यापक अभिव्यक्त होते हैं। रसमंथ में काव्य-तत्व अनिवार्य है और यह काव्य-तत्त्व पश्चिम के नाटकों में नाटकों के यथार्थ के माध्यम से प्रकट हुआ है। उसमें गीति अथवा काव्य-तत्व बाहर से आरोपित नहीं किया गया है। लेकिन हिन्दी में रसमंथ का यह स्वरूप प्रसाद से लेकर आज तक उस जागी रूप में नहीं विकसित हो सका है। शायद इसलिए की हिन्दी के गीति-नाट्यकारों ने प्रत्यक्ष रूप से काव्य का सहारा लिया है।

प्रसाद के 'कल्पनासय' में एक पौराणिक कथा भी गयी है। जहाँ आकाशवाणी सुनकर राजा हरिमथभर अपने पुत्र रोहित को राज में बलि देना चाहते हैं। इस पर रोहित बोलता है :

'अहा स्वच्छ नभ मीन, अरण रजि रजिम की  
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में,  
तब प्रमात का रूप सुबह है सामने,  
जबे बदलता नील तमिस्रा राजि से,

विश्व  
केला

रोहित इस गीति  
शुभरता है और इस  
विश्वाने की स्थिति पा  
इस नाट्य में जगह-ज  
स्थितियों का निर्माण  
प्रतिघातों को प्रकट  
काव्य-धारा का ही एक

'प्रसाद' के समयका  
का 'जन्मभूत', हरि  
अनेक नाट्य इसी रीती

गुप्तजी ने अपने  
सीधियों में विप्राजित  
मथ का घर, चक्रुतश  
उद्यम का एक भाग  
और रगम-समा।

इस गीतिनाट्य में  
'अनघ' में एक अंतर  
है वहाँ 'अनघ' में बंधे

सियारामभरण  
'अनघ' के ही अनु  
उत्सैक मिसता है  
इसमें रसमंथ के संके  
नाट्य की दृष्टि से स

जिसमें तारु का भी कुछ न प्रकाश है  
केसा दुःखदायक है.....

रोहित इस गीति-नाट्य में। विभिन्न स्थानों और भाव स्थितियों से गुजरता है और इस तरह से प्रसाद की भावनाओं के विभिन्न संघर्ष को दिखाने की स्थिति पाते हैं। साथ ही प्रसाद की अपनी काव्य-धारा को भी इस नाट्य में जगह-जगह स्थान देते हैं। इसलिये उन्होंने जान-भूतकर ऐसी स्थितियों का निर्माण किया है जहाँ यह अनुभव की भावनाओं और भाव-प्रतिबन्धों को प्रकट कर सकें। उनका यह गीतिनाट्य वास्तव में उनकी काव्य-धारा का ही एक उदाहरण है।

'प्रसाद' के समकालीन मैथिलीधरम गुप्त का 'अनघ', सिधारामशरण गुप्त का 'अनुभव', हरिकृष्ण 'बेनी' का 'स्वर्णविहान' और उदयशंकर भट्ट के अनेक नाट्य इसी शैली कम में आते हैं।

गुप्तजी ने अपने गीतिनाट्य 'अनघ' को दृश्यों में न विभाजित कर शीर्षकों में विभाजित किया है। जैसे—अरुण, नौपास, उद्यान, बटखोया, मध का घर, चमूतरा, शाम मौज्ज का घर, मधुवन, मुखिया और चौपास उद्यान का एक भाग, एकान्त, मेढ, दण्ड-गुह, कारागार, मगस राखधानी और श्याम-सभा।

इस गीतिनाट्य में भी बड़ी मानसिक संघर्ष का चित्र है लेकिन प्रसाद के 'अनघ' में एक अंतर है। प्रसाद ने जहाँ मानव अनुभूतियों पर बल दिया है वहाँ 'अनघ' में अपेक्षाकृत जीवन सिद्धान्तों पर बल दिया गया है। जैसे :

'पर क्या यह सूटी रटना है,  
इति मोति देवी बटना है।  
उसका वेसा ही फटना है,  
जिसका जैसा जोना है।  
विषम विश्व का कोना है।'

सिधारामशरण गुप्त ने अपने गीति-नाट्य 'अनुभव' की रचना विस्फुल 'अनघ' के ही अनुसार की है। इसमें भी दृश्य के स्थान पर शीर्षकों का ही उल्लेख मिलता है जैसे—अमन-कस कुथुवासय, संजामन, जिविर इत्यादि। इसमें रंगरंग के संकेत भी 'अनघ' के सदृश मिलते हैं। यह नाटक भी गीति-नाट्य की दृष्टि से उत्कृष्ट नाटक कहा जा सकता है।

बस्तुतः गीति-नाट्य का यह नाश यह काल है जब गाँधी जी के नेतृत्व में खारा देश आजादी की लड़ाई लड़ रहा था। इसलिए इस काल के तमाम गीति-नाट्यों में गाँधी के व्यक्तित्व की अजब छाप है। प्रायः सभी गीति-नाट्यों के अहिंसा, प्रेम, दानिदान, त्याग आदि तत्वों पर अधिक बल दिया गया है और उन्हीं तत्वों का भावोच्छ्वास प्रायः नाट्यों में मिलते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी का गीतिनाट्य 'स्वर्णविहान' इसका सुन्दर उदाहरण है। इसमें अहिंसा के द्वाारा हिंसा पर विजय दिखायी गयी है। प्रेम की महत्ता बगड़-बगड़ इस गीतिनाट्य में प्रकट है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भावों की अभिव्यक्ति में छायावादी काव्यधारा का अधिकाधिक प्रभाव है। उदाहरण के लिए 'स्वर्णविहान' की निम्नलिखित पंक्तियाँ :

'जाने कब, किस ओर बैठकर, प्रेम छोड़ता अपने बाण  
जाने कब, कैसे छिद जाती किन्तो अपरिचित की मुस्कान।  
जाने कब किसकी लीला का रूज मधुरतम मादक गान  
अन्तर के हवें छू छू कर पागल कर देता है प्राण।'

आगे चलकर जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक गीतिनाट्य लिखे हैं और जो इस प्रसंग में उपेक्षाकृत सकल हैं वह हैं नाटककार उदयशंकर भट्ट। इन्होंने मंच और रेडियो दोनों की ध्यान में रखकर गीतिनाट्य की रचना की है और अनेक गीतिनाट्य ऐसे हैं जो रेडियो के लिए बहुत ही ज्यादा उपयुक्त हैं। इसके कुछ प्रसिद्ध गीतिनाट्य हैं—१. 'कालिदास', २. 'मत्स्यगन्धा', ३. 'विभवामित्र' और 'राधा'।

'मत्स्यगन्धा' में उन्होंने अतुल्य छन्दों का इस्तेमाल किया है और साथ ही कुछ संवादों की रचना उन्होंने इस प्रकार की है कि वे नाटक के संवाद लगते हैं। इस तरह 'मत्स्यगन्धा' में अतुल्य छन्द कथोपकथनात्मक गद्य और गीतों को संवादित रूप से इस्तेमाल किया है और परिणाम यह हुआ कि 'मत्स्यगन्धा' में रोचकता और विविधता दोनों हैं, किन्तु विचारधारा और भावना की दृष्टि से इसमें भी मानव-सिद्धांत और मानवमूल्यों पर अधिक बल दिया गया है। सारी क्या है? इसका जान करने के लिए इन्होंने मेवका के मुँह से कहलवाया है :

इस क्रम में  
नाट्य के ज्यादातर  
गीतिनाट्य धरम  
निम्नलिखित हैं—  
परस्पर गीतों में व

जाने बसक  
कवियों का योगदान  
(१) सुमिता  
(२) रामदास  
(३) बगवती  
(४) निराशा  
(५) गिरबाण  
(६) आरती  
(७) धर्मवीर

काल वह काल है जब गीतों की तेजस्वी  
रही थी। इसलिए इस काल के तमाम  
की अन्तर्भाव है। प्रायः सभी गीति-  
स्वांग आदि तन्त्रों पर अधिक बल दिया  
गया। प्रायः नाट्यों में मिलते हैं।  
'वर्षाविहार' इसका सुन्दर उदाहरण है।  
विषय दिखायी गयी है। प्रेम की महत्ता  
है। यह भी ध्यान देने की बात है कि  
काव्यधारा का अधिकतम प्रभाव है।

नरकविशेष पंक्तियाँ :

प्रकार, प्रेम छोड़ना अपने आप  
किन्तु अपरिचित की मुस्कान।  
आ पूज मधुरतम मधक गान  
पास कर देता है प्राण।

ये अधिक गीतिनाट्य सिद्ध हैं और जो  
है नाटककार उदाहरण मद्र। इन्होंने  
में रखकर गीतिनाट्य की रचना की है  
किन्तु के लिए बहुत ही ज्यादा उपयुक्त  
है—१ 'कामिदास', २. 'मत्स्यगन्धा',

येत छन्दों का इस्तेमाल किया है और  
इस प्रकार की है कि वे नाटक के संवाद  
में अनुचित छन्द कथोपकथनात्मक गद्य  
रस किया है और परिणाम यह हुआ कि  
शिक्षता दोनों है, किन्तु विचारधारा और  
संस्कृति और मानवमूल्यों पर अधिक  
ध्यान देने के लिए इन्होंने श्रेष्ठता

'नारी प्राण विहीन केशव से रहित,  
एक भावना पुंज पराई भास है।  
को साधन है जग में मानव-सौख्य की,  
मुख होना है स्वर्ग, अपर का सुख सदा।  
वह निरास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की,  
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं।'

इस क्रम में 'राधा' एक नये प्रकार का गीतिनाट्य है क्योंकि यह प्राय  
नाट्य के ज्यादा समीप है। साथ ही इसकी नवीनता यह है कि यह सम्पूर्ण  
गीतिनाट्य सरल गीतों से निर्मित है। उनके गीत-तन्त्रों के उदाहरण  
निम्नलिखित हैं—जहाँ 'राधा' बिलास, कृष्ण प्रेम में आत्मविभोर है और  
परस्पर गीतों में आर्तलाप कर रही है। राधा कह रही है :

'क्या हुआ मैं मान थी अपनी लहर में  
पर न जाने दृष्टिपथ में आ गए वे क्या कहें रो।  
वज्र-कीलित से हुए उरकीर्ण से मेरे हृदय में।  
क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,  
दूध पर जाती कलश से भीर लेने हेतु जब मैं  
वेर से आते मुझे अज्ञान में समुद्र नदी तट।  
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है।'

'क्या कहें किससे सखी, मैं भूल सारे विषम बन्धन,  
छोड़ जग आचार 'लज्जा' पुरुषी से हृदय विह्वल  
रात बिन, संभ्रा सचेरे, दुपहरी इस कृज बन में।  
सुंजती है कान में ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप, वह ढबि  
नेत्र में सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।'

अगे बंधकर इस गीतिनाट्य परम्परा में और भी अधिक महत्पूर्ण  
कवियों का योगदान मिलता है। जैसे :

- (१) सुमित्रानन्दन पन्त
- (२) रामधारी सिंह 'दिनकार'
- (३) भगवतीचरण शर्मा
- (४) निराला
- (५) गिरजाकुमार माथुर
- (६) आरती प्रसाद सिंह
- (७) अर्मवीर भारती



इस प्रयोग में सबसे अधिक काव्य-रूपों की रचना पन्त जी ने की है। उनके सभी काव्यरूपक इस विधा में अव्यक्त उल्लेखनीय हैं— (१) राजतमिन्दर, (२) फूलों का देश, (३) उत्तरवती, (४) शुभ पुरुष, (५) विद्युत-वंशना, (६) अरत चेतना, (७) तिली, (८) अर्धसंकेत, (९) अक्षर और भववर्षी-घरम वर्मा के तीन नाटक—(१) कर्म, (२) महाकाल, (३) दीपरो प्रसिद्ध हैं।

दिनकर का पहला काव्यरूपक 'मगध महिमा' है और उनका नवीनतम और श्रेष्ठतम काव्यरूपक है—'उर्वशी'। जनकजीकरण वर्मा के भी तीन काव्य-रूपक हैं : (१) कर्म, (२) महाकाल, (३) दीपरी। इसी क्रम में सिद्धनाथ कुमार के भी कई लघु काव्य रूपक हैं; जैसे—'कवि' 'सृष्टि की सांख', 'गोह देवता', 'संघर्ष', 'विकलांगों का देश' और 'बावनों का जग'। निराना जी के काव्यरूपक 'पंचवटी प्रसंग' और बिरजा कुमार का 'हंजुमती' और आरक्षी प्रसाद सिंह का 'भवलिका', 'गुण छांड़'।

दिनकर जी की 'मगध महिमा' में मगध के अतीत वैभव का बड़ा व्यापक चित्रण है। उन्होंने समूचे रूपक में बुद्ध, सुजाता, अशोक आदि चरित्रों की भावानुसूतियां व्यक्त की हैं।

पन्त जी के काव्यरूपक में 'राजतमिन्दर' से लेकर 'अक्षर' तक मनुष्य की नव संस्कृति का विषय चरित्रार्थ हुआ है। यहाँ पन्त जी आधुनिक युग के दिस्थापित मानव को पुनः जानन्द में और सुख में स्थापित करना चाहते हैं। 'राजतमिन्दर' में एक युवक और युवती का परिणत उधर कर भाग है जहाँ कवि मनोवैज्ञानिक बनकर उनकी स्थितियों का विश्लेषण करता है :

प्रणयवान तुम इन्हें नहीं दे सकीं; कदाचित्  
हृदय समर्पण करना तुमको इच्छ नहीं था,  
इसमें इनका दोष नहीं है : अवचेतन की  
प्रबल शक्ति से ये सतत अभिभिन्न रहे हैं।

अन्त में पन्त जी जिस नव संस्कृति का निर्माण करते हैं, उसके चित्र हमें नीचे की पंक्तियों में मिलते हैं :

प्रातः-साधना, विषय प्रेम से भी संशोभित  
प्रीति-पाठ में बांधे हम नव मानवतप की  
जिदका दृढ़ आधार एकता ही आत्मा को,  
जिसकी साम्प्रत नीव चेतना की उत्पन्नता

मनुज प्रेम से  
जग को नव  
आजो हम न

'फूलों का देश' नामक कवि  
तथा चस्तुवाय सम्बन्धी संघर्ष  
स्थापित करने की चेष्टा की है।

किर से बहि  
पुनः ज्ञान-वि  
आहित-समाप  
वहते आर्षणे  
बहिर्जागृ के  
नव्य चेतना  
राज्य अहिता  
विचरेगी मान  
नव संस्कृति

'शुभ पुरुष' में गीता  
स्वर्धोन्ता की चेतना का  
है कि स्वतंत्रता की उपयोगिता  
निर्माण में ही परिणाम ही सफल

'अरत चेतना' में पन्त  
श्रुतियों से 'शरद' श्रुत का  
वंशना की है।

बरसाओ है  
हो स्वप्नों से  
लहरों में  
फूलों की प

वरसो सू म  
चेखना सिकत

'तिली' काव्य-रूपक में प  
है। जहाँ उन्होंने लोक विविध

मनुज प्रेम के लिए पात्र हो मनुज प्रेम वह  
जग को नव संस्कृति का स्वर्णिम द्वार दिखाएँ,  
आओ हम नव मानव का घर द्वार बधाएँ ।

'फूलों का देश' नामक काव्यरूपक में उन्होंने अहमदनवाव, मोतिकवाव तथा बस्तुबाव सम्बन्धी वर्णन की अभिव्यक्ति देकर उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है । उन्होंने कहा है :

फिर से बहिरन्तर संबोजित होगा मानव,  
पुनः ज्ञान-विज्ञान समन्वित होगा जीवन ।  
अभित-समाज परस्पर अन्योन्याश्रित होकर  
बढ़ते जायें विकास के स्वर्णिम पथ पर ।  
बह्निर्गत के पिछर ज्वार पर आरोहण कर  
नव्य चेतना उतरेगी फिरणों से मुक्ति,  
सत्य अहिंसा होंगे भावों के पञ्चदशक,  
विचरेगी मानवता फूलों के प्रदेश में  
नव संस्कृति काँधी-शोभा औरत से घोषित ।

'शुभ्र पुष्प' में गाँधी जी के व्यक्तित्व का 'विद्युत्-वसना' में स्वात्मनता की चेतना का रूपक है । जिसमें उन्होंने यह उद्देश्य दिया है कि स्वतंत्रता की उपयोगिता लोक-एकता और विश्व मानवता के निर्माण में ही परिणाम्य हो सकती है ।

'भारत चेतना' में पंथ जी ने 'हेमन्त', 'शिशिर', 'वसंत' आदि ऋतुओं से 'भारत' ऋतु का अभिव्यक्ति किया है और अन्त में उन्होंने चेतना की है ।

बरसाओ हे नव श्री पीव  
हो स्वप्नों से क्षिप्त भू आँगण  
लहरों में झलके रञ्जन ज्वाल  
फूलों की पसकों में हिलकण  
+ + +  
बरसो भू मानव के शरीर,  
चेतना विवश हो सब भूवन्द ।

'शिलो' काव्य-रूपक में पंथ जी नाट्य-रस के अधिक करीब आये हैं । वहाँ उन्होंने तीन विविध दृश्यों में 'शिलो' के व्यक्तित्व के माध्यम

से नवनिर्माण की चेतना प्रकट की है। इसी तरह 'अप्सरा' रूपक में पन्थ जी ने संगीतक और अभिनेताओं की ध्यान में रख कर इस कृति की रचना की है।

इस क्रम में विनकर का गीतिनाट्य 'उर्वशी' स्वतंत्रता बाद के काव्य-रूपकों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसका समुचित टीका काव्य-रूपक का है। इसमें पाँच अंकों हैं। प्रथम दो अंकों में अत्यधिक क्लृप्त-कल्प का प्रयोग किया है और अन्त्यानुशासक का आत्मत्व उभर कर आया है। शेष अंकों में इनकी कवि गरिमा उभर कर आई है। इसके प्रथम अंकों का आरम्भ नदी और सूनसार के वातावरण से होता है। आगे अन्धकार, स्वर्ग और भारत की तुलना करती हुई दिव्यार्थ देती है और देवताओं तथा मनुष्यों का मिश्रण करती है और यहीं पुरुषवा और उर्वशी का पूर्वराग प्रकट होता है। दूसरे अंक में पुरुषवा उर्वशी को साथ लेकर गंधमादन पर्वत पर चला जाता है और वही क्रम में विनकर जो यह दिखाते हैं कि पुरुष का नारी विषयक अमुराग कैसा होता है :

पुरुष सदा आक्रमण विचरता मारक प्रणय-सुख से,  
जब से उसको वृत्ति नहीं, सतौष न कीर्ति-मुद्रा से।  
वराकलश में उसे अनन्ति का बस याव आशा है,  
संकट में पुवती का शीघ्र-कल घाट आता है।

तृतीय अंक में पुरुषवा-उर्वशी का गन्धमादन-विहार बणित है और इस वर्णन में प्रेम रस की जो अनुभूति विनकर जी ने व्यक्त की है वह आत्यधिक शक्ति है।

चौथे अंक में उर्वशी का मातृत्व रूप दिखलाया गया है और पाँचवाँ अंक पुरुषवा के स्वप्न-वर्णन से शुरू होकर पुरुषवा की आत्मानुभूति में समाप्ति हो जाता है। इस समय योजना में दिखकर जी ने उर्वशी का जो विश्व हिन्दू-साहित्य को दिया है वह जिसका गरिमाय है उतना ही अर्थवान है। इसमें उन्होंने नारी सौन्दर्य दिया है, पुरुष प्रेम दिया है और नारी नीतर मातृत्व और पतिव्रत का संघर्ष दिया है।

इस क्रम में अर्धवीर भारती का 'अंधायुग' भी अत्यधिक उत्तमोत्तम है। यह कई दृष्टियों से हिन्दी गीतिनाट्य परम्परा में नया उदाहरण है। इसमें पशुनी बार रंगमंच का आवाहिक और व्यापक महान उपयोग हुआ है।

यह नाटक सभी रेडियो में प्रसारित किया गया है। यह रूपक पाँच अंकों का है, जो गीति नाट्यों में वास्तविकता का है। किन्तु भारतीय ने 'अंधायुग' किया जिसके कारण उत्तम हो सका है।

'अंधायुग' में पहले जो महाभारत की प्रथम द्वितीय महायुद्ध के माक करती है। 'अंधायुग' की कुंठाओं आदि का उद्घाटन नारी भावना को प्रकट किया है जो व्यापक कारण ने कहा है :

लेकिन बीच में  
नाकी सभी  
मेरा वायित्व  
दूर मानव-धन  
जिसके सहारे  
सभी परिस्थिति  
नूतन निर्माण  
मर्यादासुक्त  
निष्ठ नूतन  
निर्भयता के  
साहस के  
मनता के  
रस के  
क्षण में  
जीवित और स

है। इसी तरह 'अप्सरा' रूपक में  
तामों को ध्यान में रख कर इस

'उर्वशी' स्वतंत्रता बाद की काव्य-  
समुचित डॉक्टर काव्य-रूपक का है।  
अधिक सभित-रुद्र का प्रयोग किया  
आया है। शेष अंकों में उनकी  
प्रथम अंकों का आदर्श नटी  
है। आगे अप्सराएँ स्वर्ग और  
देती हैं और देवताओं तथा मनुष्यों  
रखा और उर्वशी का पूर्णरूप प्रकट  
उर्वशी को साथ लेकर संसारावन  
बिनकर जो यह दिखाते हैं कि पुरुष

आपका प्रणव-शुभ्रा से,  
शोक न कीर्ति-सुधा से।  
न वस पाव आता है,  
क्य बाद आता है।

सम्पादक-विहार मंगित है और  
ते दिनकर जो ने व्यक्त की है

बलाया गया है और पाँचवाँ अंक  
की आत्मानुभूति में समाप्ति हो  
उर्वशी का जो चिक हिन्दी-  
है उतना ही अर्थवान है। इसमें  
गया है और नारी गीतर मातृत्व

की प्रत्यक्ष उल्लेखनीय है।  
में गया उदाहरण है। इसमें  
रूपक गहन उपयोग हुआ है।

यह नाटक सभी रेडियो और मंच दोनों पर बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया  
गया है। यह रूपक पाँच अंकों में विभाजित है। इसमें जिस पौराणिक कथा का  
आधार रखा गया है, उसमें एक नये प्रकार की आधुनिकता है। अभी तक  
गीत नाट्यों में या तो तुलान्त छंदों का प्रयोग होता था या अनुकूल छंदों  
का। किन्तु भारतीय ने 'अंधाधुन' में पहली बार विद्युत् युक्त छंदों का व्यवहार  
किया जिसके कारण यह रंगमंच और साबाविश्विक दोनों में अधिक  
सफल हो सका है।

'अंधाधुन' में पहले की अपेक्षा एक विस्तृत बसावस्तु ग्रहण की गयी है।  
जो महाभारत की प्रथम कथा है। लेकिन इस कथा का इस्तेमाल भारतीय ने  
द्वितीय महायुद्ध के बाद जपानी हुई मानवकल्याण और उसके संघर्ष को प्रकट  
करती है। 'अंधाधुन' की कथा के सहारे नाटककार ने युद्धकाल्य अर्थसंस्थाओं,  
हुंदाओं आदि का उद्घाटन किया है। इन्हीं के बीच उगती हुई नयी पर्याय  
नयी आस्था को प्रकट किया है।

कृष्ण ने जो व्यास से कहा है वह वास्तव में आज के अनुष्य से नाटक-  
कार ने कहा है :

लेकिन जो मेरा साधित्व लगे  
बाकी सभी  
मेरा साधित्व यह स्थित रहेगा  
हर मानव-मन के उस घुस में  
जिसके सहारे यह  
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए  
नूतन निर्माण करेगा पिछले धर्मों पर  
सर्परायुक्त आचरण में  
नित नूतन सूचन में  
निर्धनता के  
सहस्र के  
समता के  
रस के  
कर्म में  
जीवित और सक्रिय हो उठेगा मैं बार-बार।



## एकांकी और पद्यार्थवादी नाट्य धारा

पद्यार्थवादी धारा के बारे में सोचते ही हमारा ध्यान हिन्दी के एकांकी नाटकों पर जाता है। एकांकी नाट्य-लेखन हिन्दी रंगमंच और उसके नाटक की बहु बुनियाद है, जहाँ वास्तव में रंगमंच की भाँव के लिए लघु नाटकों को सृष्टि हुई है। इसके विकास क्रम में धुनेपवर, रामकुमार, गेठ गोविन्द दास, उपेन्द्रनाथ अग्रक, जगदीशचन्द्र मायुर, उदयसंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, श्रीरामकृष्ण बेनीपुरी, सबगुलशरण अबस्ती और हरिबूष्ण प्रेमी आदि के नाम सामने आते हैं। इन नामों में जिनेषकर धुनेपवर, रामकुमार वर्मा, अग्रक, विष्णुप्रभाकर, जगदीशचन्द्र मायुर के नाम अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। निम्न-विद्यालयों में आर्य दलों की प्रतिष्ठा विभिन्न कालों और छोटे-छोटे कर्मों की अन्त्यात्मिक नाट्य दलों की भाँव का पूर्ण के लिए हिन्दी में बहुत बड़ी संख्या में एकांकी नाटकों की रचना हुई। इसके भीतर से दो तरह के लघु नाटक सामने आये। पहला कोटि में ऐसे सामाजिक पद्यार्थवादी नाटक आते हैं, जिसमें समाज के भीतर से, समाज की धारा से आधुनिक मनूष्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। दूसरी कोटि में वे लघु नाटक आते हैं जहाँ दृष्टिगत और पुराण की कथावस्तुओं के माध्यम से एक रोमांटिक धारा उभर कर सामने आती है। इन दोनों कोटियों में जो सामाजिक पद्यार्थवादी धारा भी उसमें अपेक्षाकृत रंगमंच की व्यावहारिक भाँव ज्यादा प्रखर रूप से है। पर इन दोनों कोटियों के लघु नाटकों में विषयवस्तु की दृष्टि से विस्तार और विविधता आती और नाटकीय अनुसृष्टि पहले से कहीं ज्यादा अधिक गहन हुई इसके साथ ही यह भी केंद्र में आया कि नाट्य रचना का शिल्प भी अधिक प्रौढ़ हुआ और अनेक रोजक शिल्पगत उपयोग हुए। पर दूसरी ओर उस समय का एकांकी साहित्य कालेजों और पाठ्यपुस्तकों की भाँव की पूर्ण के लिए भी रचा जाँव लग्य। फिर भी इस अधि में लघु नाटकों के नाम पर पद्यार्थवादी धारा ज्यादा प्रखर हुई।

इसका सबसे  
धुनेपवर और  
एकांकी को उस  
दलों द्वारा केले  
'स्ट्राइक' और  
की लेकर धुनेपवर  
में तीन नाटकीयत  
आई। दूसरी ओर  
ऐसे प्रौढ़ एकांकी  
दोनों नाट्यकारी  
मानव संवेदनाओं  
के शोकिता रंगम  
मया समाज और  
इन नाटककारों क  
उस काल के म  
जगदीशचन्द्र मायु

दूसरी ओर  
प्रभाकर, सक्षी  
नाटककारों में र  
की भाँव के लिए  
'बाहर या सिद्  
'राजमुकुट' आदि

स्वतंत्रता से  
की पद्यार्थवादी ध  
जहाँ में आधुनि  
कारण है कि एक  
एक के विरोधा  
काल की नाट्य-

नाट्य धारा

छोचते ही हमारा ध्यान हिन्दी के एकांकी लेखन दिग्गज रंगमंच और उसके नाटक में रंगमंच की भांग के लिए लघु नाटकों में भुवनेश्वर, रामकुमार, सेठ गोविन्द प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, अवस्थी और हरिकृष्ण प्रेमी आदि के नाम खेचकर भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, जशक, र के नाम अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। विष्णु प्रसाद विभिन्न कालों और छोट-छोटे कस्बों की भांग की प्रति के लिए हिन्दी में बहुत ही रचना हुई। इसके भीतर वे दो तरह के कोटि में ऐसे सामाजिक बर्षार्षवाणी नाटक धार से, समाज की धारा से आधुनिक कथा गया है। दूसरी कोटि में वे लघु नाटक की कथावस्तुओं के माध्यम से एक रोमांटिक इन दोनों कोटियों में जो सामाजिक बर्षार्षवाणी-नामक की आबहारिक भांग ज्वारा प्रसर रूप लघु नाटकों में विषयवस्तु की दृष्टि से विस्तार मिला अनुभूति पहले से कहीं ज्यादा अधिक भी यज्ञ में आया कि नाट्य रचना का र अनेक रोजक शिक्षागत प्रयोग हुए। पर साहित्य कालों और पद्यपुस्तकों की जाने मगर। फिर भी इस अवधि में लघु नाट्य धारा प्रसर हुई।

इसका सबसे ज्यादा प्रमाण है १९३० और ४० के बीच लिखे गये भुवनेश्वर और रामकुमार वर्मा के अनेक लघु नाटक। भुवनेश्वर के कई एकांकी जो उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में छपी थीं उस समय के नाट्य दलों द्वारा छेले गये, उनमें प्रसिद्ध नाटक हैं- 'तबि के कीड़े', 'कारवा', 'ह्याइक' और 'ऊसर'। स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों की बर्षार्षवाणी स्थितियों को लेकर भुवनेश्वर के ये नाटक बड़े ही सशक्त सिद्ध हुए। उनके संवावों में तीव्र ग्राहकीयता के साथ ही साथ संवादों की एक नयी भावा-बोली सामने आई। दूसरे ओर रामकुमार वर्मा के 'रेवामी टाई' एकांकी संग्रह में से कई ऐसे छोटे एकांकी सामने आए जिनका रंगमंचीय पक्ष अत्यन्त प्रशंसक था। इन दोनों नाटककारों की वस्तुयोजना और रंगबोली में से एक और आधुनिक मानव संवेदनाओं को अतिव्यक्ति मिस्री और दूसरी ओर उनके लघु नाटकों से जोकिया रंगमंच की गति मिली। औद्योगिकीकरण से उस समय की एक नया तनाव और संघर्ष तथा विविधताएँ समाज में आई थीं उन सबका विग्रह इन नाटककारों की कृतियों में हुआ। दूसरी ओर उपेन्द्रनाथ अशक के एकांकी उस काल के मानव चरित्रों और स्वभावों के प्रहसनात्मक वस्तुलेख हैं। जगदीशचन्द्र माथुर का उस काल का एकांकी नाटक संग्रह है 'घोर का तारा'।

दूसरी ओर इस काल में उपेन्द्रनाथ अशक, गोविन्दबल्लभ पंत, विष्णु प्रभाकर, सस्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्द दास और उदयशंकर भट्ट आदि नाटककारों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के परिप्रेष में और उसी के आवर्षों की भांग के लिये जोक नाटक लिखे हैं। इन नाटकों में उदयशंकर भट्ट के 'बाहर मा सिंह पगल', अशक का 'जय पराजय', गोविन्द बल्लभ पंत का 'राजपुट' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व यह वह काल है जहाँ से हिन्दी के सामाजिक नाटकों की बर्षार्षवाणी धारा की शुरुआत हो रही थी और हिन्दी नाटक अस्सी वर्षों में आधुनिक नाटक बनने की दिशा में संवर्षधीन सग रहा था। यही कारण है कि स्वतंत्रता से पूर्व प्रायः सभी सामाजिक नाट्य-कृतियों में कई तरह के विरोधाभास सामने उभर रहे थे। पहला विरोधाभास यह कि इस काल की नाट्य-कृतियों में अशक प्रसाद, सस्मीनारायण मिश्र की प्रतिक्रिया

में और उनसे दूर हटकर, फिर भी उसी तरह के रंगमंच से बिकने रहने की सच्चाई। दूसरा विरोधाभास यह कि इस काम के नाटक ऊपरी तौर पर तो सामाजिक आणकता का परिचय देते हैं लेकिन उनके कलात्मक माध्याम प्रायः भावनात्मक होते हैं। और सबसे बड़ा विरोधाभास कि यह इन सामाजिक नाटकों में व्यावहारिक रंगमंच का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट और व्यावहारिक होता था।

□ □

ऐतिहासिक दृष्टि से  
में हुआ—अर्थात् प्रथम  
में एक अस्पृष्ट तनाव

राजनीतिक क्षेत्र  
हो चुकी थी, अर्थात् रा  
दूसरी ओर अंग्रेजों की  
धर्म-नीति और शासन  
काफीन सामन्तीय अ  
देवी से छत्र रही  
सत्य का जन्म होने  
आधिक तथा सौन्दर्य-व  
टकराने लगा था। इस  
दृष्टिकोण तथा सांस्  
में जो नया अन्वेषण  
स्तर उस स्तर और  
को हिन्दी कहानियों

इस सत्य को  
पर यह पता कि इ  
बचाववादी रहा। अ  
हुमा, यह अपने वा  
परिचय से महत्त्व  
कथियों से हिन्दी  
उसके सारे संस्कार





इस दृष्टि से हिन्दी एकांकी के स्वरूप में अपनी मौलिकता और सहज विकास की छाप आदि से ही है। इस सत्य के आकलन के लिए हमें, हिन्दी के सर्वप्रथम एकांकी 'एक घंटा' से पूर्व की नाट्य-स्थितियों को देखना होगा। अर्थात् इससे पहले भारतेन्दु, प्रसाद, आदि द्वारा लिखे गये सम्पूर्ण नाटक तथा उस काल के रंगमंच की धारा का स्वरूप क्या था? अतः हिन्दी एकांकी के स्वप्न की पहचानने के लिए अपनी उस उपलब्धि को देखना होगा, जिसे हम किन्हीं अर्थों में हिन्दी एकांकी की बिरासत कह सकते हैं।

भारतेन्दु का नाम और उनकी सृजनशीलता के फलस्वरूप समूचा भारतेन्दु काल हिन्दी नाटक के विकास का प्रथम धरण है। इस धरण में नाट्य-कला की परम व्यावहारिकता—अर्थात् रंगमंच—की दिशा में आगे चलते ही पारसी रंगमंच की तृती मोल उठती है। इस विरोधी स्थिति के सम्मुख नाटककार भारतेन्दु ने जो निर्भय निष्ठा, चतुर्दल प्रतिक्रिया अधिक थी, दूरदर्शिता और व्यावहारिकता कम। भारतेन्दु ने अपने नाटकों का सृजन संस्कृत-नाटकों की प्रणाली से किया और उनमें भारतीय नाट्य-शास्त्र की स्थापना पर सूत्र बल दिया। इसका फल यह हुआ कि नाटकों का स्वर साहित्यिक हो गया और उनके अरातल से स्पष्ट हो गया कि वे नाटक हस्यवत् न रहकर केवल पठन पाठन के सत्य बनकर रह गये। यह सत्य किसी न किसी रूप में समूचे भारतेन्दु-काल के नाटकों पर लागू है। साहित्यिक नाट्य-धारा पठन-पाठन की नाट्य-धारा होकर रह गयी। इस तरह हिन्दी नाटकों की ऐसी परम्परा स्थापित हुई कि उसके विकास-क्रम में आगे की समूची धारा उसी दिशा में अवाध हो गयी। भारतेन्दु के बाद प्रेमधन, फिर मिथ-बन्धुओं के नाटक 'महाभारत' और 'मेनोमीनन' माखनसाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' और मैथिलीशरण गुप्त का 'बन्धुहास' और इस विस्तृत साहित्यिक नाट्य-धारा की धरम सीमा—प्रसाद का नाट्य-साहित्य। यह समूची नाट्य-धारा जैसे उस काल के व्यावहारिक रंगमंच से असम्पृक्त धारा की क्योंकि दूसरी ओर विस्तृत रंगमंच की भी धारा अवाध गति से चल रही थी—आगा, हथ, बेताब, भीहर, अँदा तथा कथावाचक राष्ट्रीय का व्यक्तित्व, इस धारा के अन्ततम उदाहरण थे। इनकी रंगमंच भी मिशा वा जो बही अति व्यावसायिक पारसी रंगमंच।

इस तरह से हिन्दी एकांकी के अन्त के समय हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में दो सत्य उपलब्ध थे :

(अ) भारतेन्दु, प्रसाद को विस्तृत साहित्यिक नाट्य-धारा—ऐतिहासिक, पौराणिक संवेदनाओं और कर्ष-विषयों की स्थापना।

(आ) आगा हथ, व्यावसायिक पारसी रंगमंच चलाने की प्रवृत्ति 'विस्तृत' ने इतना गहरा किया कि हम आज भी उस

पर हिन्दी एकांकी सत्य को लिए जाया उसकी गति में संस्कृत एक सूत्र के अन्तर्गत का 'कारवाँ' और आगा संग्रहों के एक-एक एक भाव-पक्ष अथवा सामाजिकता और सत्य की अतिव्यक्ति के की सकल छाप है। 'व्यावहारिकता का स हिन्दी एकांकी के रंगमंच की व्यावहारिकता और उसकी निरर्थक एकांकी के स्वरूप के

आगे चलकर विकसित होते हैं या सकारण है।

(ब) ऐतिहासिक (पर इस स एकांकी 'कृष्ण' हरिश्चन्द्र

(ब) माया हृष, बेढास आदि के माध्यम से अनुचासित विद्युत् व्यावसायिक पारसी रंगमंच का स्वरूप ।

ध्यान देने की बात है—कि दोनों जोर 'विद्युत्' जुड़ा हुआ है । इस 'विद्युत्' में दृढ़ता नहूरा व्यवसाय नाटक और रंगमंच के बीच काज बिया कि हम जान भी उस दिशा में उवात हैं ।

पर हिन्दी एकांकी अपने आधिर्भाव के साथ ही एक ऐसे सन्तन्वयात्मक स्वरूप को लिए लाया कि रंगमंच और एकांकी रचना—दोनों के सूत्र शैले उसकी गीठ में संस्कारतः बंधे थे । जैसे रंगमंच और एकांकी रचना दोनों एक दूसरे के अनिवार्य तत्व थे—अरीर और आत्मा की भाँति । भुवनेश्वर का 'कारवां' और डाक्टर रामकुमार वर्मा की 'रेल्वी टार्ड' इन को एकांकी-संप्रदायों के एक-एक एकांकी उक्त स्थापना के अन्यतम उदाहरण है ।

भाव-पक्ष अथवा वर्ण्य विषयों की दृष्टि से हमके स्वरूप पर मध्याय सामाजिकता और लक्ष्मण जीवन के इन्द्रात्मक उद्देश्यों और जीवनगत मूल्यों की अभिव्यक्ति के प्रति उन्मत्ता भाव है । कल्पपक्ष पर आधुनिक नाट्य-शैली की सफल छाप है । 'द्वन्द्व' और 'मा' की क्लृप्त-विधिपरि और रंगमंच की व्यावहारिकता का सत्य—ये दोनों बातें यहाँ उभर कर आयी हैं । इस तरह हिन्दी एकांकी के स्वरूप में आदि से ही मध्याय जीवन का प्रतिनिधित्व, रंगमंच की व्यावहारिकता और युग की मध्याय सामाजिकता के प्रति व्यागुरुकता और उसकी निरच्छल अभिव्यक्ति के लिए कलागत आग्रह—ये तत्व हिन्दी एकांकी के स्वरूप के प्रसाधार हैं ।

आगे चलकर इस स्वरूप के नई पक्ष किन्हीं एकांकी-साहित्य में विकसित होते हैं । अध्ययन की दृष्टि से इन्हें दो सारणियों में बाँटा जा सकता है ।

- (अ) ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता के चरालस पर साहित्यिक एकांकी, (पर विद्युत् साहित्यिक नहीं) तथा रंगमंच की व्यावहारिकता : इस सरणि में डाक्टर रामकुमार वर्मा के समस्त ऐतिहासिक एकांकी हैं जैसे, 'पृथ्वीराज की लीखें', 'चारमित्र', 'स्वत-रथिम', 'अशुराज' और 'कीपुत्री महोत्सव' आदि संप्रदायों के एकांकी । कुरिकुण 'प्रेमी' के एकांकी, जिनकी सवेदनाएँ पञ्चपासोन

ऐतिहासिक कथाओं से ग्रहण की गयी हैं और इसी तरह सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट और सखीनारायण मिश्र के भी नाम इसी क्रम में जाते हैं।

(आ) अकार्य सागरविक्रता के स्वर से परम अभिनेय एकांकी। इस सरणि के उदाहरण हैं, मुचनेस्वर का 'कारवा', डा० रामकुमार वर्मा की 'रेणुकी टाई', सेठ गोविन्ददास का 'सखराम', 'स्पर्छी', 'एकादशी', 'सप्टरसिंह', और 'ब्रह्मचर्य', उदयशंकर भट्ट का 'समस्या का अन्त', 'चार एकांकी', भगवतीचरण वर्मा के 'दो कलाकार', उपेन्द्रदास 'अरक' के 'देवताओं को प्रायः में'। इस सरणि में इसी श्रेणी के दो-तीन अन्य नाम—उम, सद्गुणकरण अवस्थी और गणेशप्रसाद त्रिवेदी—नहीं छोड़े जा सकते।

इन दोनों विधाओं में हिन्दी एकांकी को जो कलागत, शिल्पगत और रंग-मंचगत स्वरूप मिले हैं, वस्तुतः वे परम उल्लेखनीय हैं। उन्हीं उपसर्गियों से ही हिन्दी एकांकी को आज एक आश्चर्यजनक सर्वांग और प्रतिष्ठा मिली है।

पहली विधा में 'संकलन-नय' और 'संकलन-द्वय' की स्थापना इसके स्वरूप को मूल धुरी है, जहाँ एकांकी का समूचा संनिधान उसके प्रेरित होता है।

डा० रामकुमार वर्मा की कला के अनुसार संकलन-नय एकांकी कला की मूल आत्मा है : जिस एकांकी में इस सत्य का निर्वाह नहीं, वह एकांकी न होकर कुछ और है, ऐसी उनको निम्नलिखित धारणा है। इसके सफलतम उदाहरण डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी हैं। संकलन-नय की पूर्ण प्रतिष्ठा के ही फलस्वरूप उसकी एकांकी कला में एक आश्चर्यजनक कलाव और रंग-शक्ति आ गयी है और उसके नाटकीय परिस्थितियों को सुन्दर से सुन्दर अवतारका रूप है।

इसके विपरीत सेठ गोविन्ददास ने संकलन-नय में से केवल संकलन-द्वय —

(१) एक ही काल का घटना (२) एक ही काल का एकांकी की शिल्प-विधि में अनावश्यक माना है। इसमें उन्होंने देश-संकलन की विरहूल स्थान नहीं दिया है। आगे चलकर उन्होंने एकांकी-शिल्प में से कला-संकलन का भी अलग कर दिया है तथा इसकी पूर्ण के लिए एकांकी रचना-विधान में 'उपक्रम' और 'उपसंहार' की प्रतिष्ठा की है। निस्सन्देह इस नव विधान से एकांकी कला

के स्वरूप को व्यापकता में—जो उसकी अपनी

धुरी दिशा में व्यापकता मिली है, वह कला हमारे जीवन सम्पूर्णता से बाँध कर उठता है। इस विधान केक ही अतिवर्ध है, संवेचना पर निर्भर क विधि की दृष्टि से एक घटना, एक परि के, संवार ले, जैसा नए, संकलन-द्वय को लपेता है और अमान है, एकांकी में एककार जो भी तन्व विधि है और वही

इस सूच के वि पीढ़ी के एकांकीकार के भी जाते हैं, अपने विचारे नये नाम वि एकांकी कला को उपसर्ग, शिल्पगत निपचय ही देना

इस नयी पी में, द्वितीय महायुद्ध स्वतन्त्रता क्रांति उ सभी स्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना

वस्तु को गवी है और इसी तरह  
अंतर मनु और लक्ष्मीनारायण मिथ के  
है।

र से परम अभिनेक एकांकी । उस सरणि  
का 'कारवां', डा० रामकुमार वर्मा की  
का 'भवरान', 'स्पष्टी', 'एकावली',  
, उदयशंकर मट्ट का 'सप्तम्या का अन्त',  
, वर्मा के 'दो कलाकार', उपेन्द्रनाथ  
में' । इस सरणि में इसी श्रेणी के दो-  
गुणकारण अवस्था और गणेशप्रवाद  
।

को जो कलागत, कल्पना और रंग-  
लेखनीय हैं । उन्हीं उपलब्धियों  
वाचकव्ययनक मर्दानी और प्रतिष्ठा

'संकलन-द्वय' को स्थापना इसके  
समूचा संविधान उससे प्रेरित

र संकलन-द्वय एकांकी कला को  
निर्वाह नहीं, वह एकांकी न  
का है । इसके सफलतम उदाहरण  
व्य को पूर्ण प्रतिष्ठा के ही  
व्ययक कला और रंग-शक्ति  
से सुन्दर से सुन्दर अवतारणा

में से केवल संकलन-द्वय—  
ही एकांकी की कल्पना-विधि में  
की विस्तृत स्थान नहीं विधा  
र-संकलन को भी अलग कर  
विधान में 'उपक्रम' और  
विधान से एकांकी कला

के स्वरूप को व्यापकता मिली है, पर इससे एकांकी को अपनी निश्चित कला  
में—जो उसकी अपनी मर्यादा है, उसमें निर्बलता जाती है ।

दूसरी विधा में एकांकी-कला के स्वरूप को आपत्तमयनक शक्ति और  
व्यापकता मिली है, जिसपर मौलिकता और अभिनय तत्व की सफल छाप है ।  
वह कला हमारे जीवन की इतने समीप से, इतनी सच्चाई और सांकेतिक  
सम्पूर्णता से बाँध कर चलती है कि जीवन अपने सततसँ सतित जैसे खिल  
उठता है । इस विधान के स्वरूप में एकांकी का एकांत प्रभाव और वस्तु का  
एक ही अविचार्य है, शेष शेष-काल की एकता या विभिन्नता या तो एकांकी की  
विस्तार पर निर्भर करता है, या एकांकीकार की प्रतिष्ठा पर । सफल कल्प-  
विधि की दृष्टि से परम कल्पित एकांकीकार वही है, जो जीवन के एक पक्ष,  
एक घटना, एक परिस्थिति को उसकी ही स्वाभाविकता से अपनी कला में बाँध  
के, खँबार ले, जैसा कि जीवन में नित्यप्रति सम्भाव्य है । इसके लिए संकलन-  
नय, संकलन-द्वय की सीमा और मर्यादा का कोई बाधन नहीं है । इसमें सबकी  
बोधा है और अनान्य स्थितियों में सब अयाह्य भी हैं—केवल परम आवश्यक  
है, एकांकी में एकाग्रता और एकांत प्रभाव । इसकी प्राप्ति के लिये एकांकी-  
कार जो भी तन्त्र उसमें प्रस्तुत करता है वस्तुतः वही एकांकी की कल्प-  
विधि है और वही एकांकीकार की अपनी मौलिकता की छाप है ।

इस सूत्र के विकास-क्रम में हिन्दी एकांकी-साहित्य का दूसरा चरण अगली  
पीढ़ी के एकांकीकारों से आरम्भ होता है । इस चरण में कुछ नाम प्रथम चरण  
के भी आते हैं, उपेन्द्रनाथ 'अक्षक' और जगदीशचन्द्र माधुर । इस चरण में  
चितने नये नाम हिन्दी एकांकी के साहित्य को मिले हैं, उनके जो स्वरूप हिन्दी  
एकांकी कला को मिले हैं, वह और भी उल्लेखनीय हैं । उससे चितनी  
उपलब्धि, चितना स्वरूप हिन्दी एकांकी को अब तक मिल चुका है, वह  
निश्चय ही बोधा जा सकता है ।

इतनी पीढ़ी को जो चेतना और मनोभाव मिले हैं, उनके विकास-क्रम  
में, द्वितीय महायुद्ध, सबसे प्रायः जीवन की आधुनिक प्रतिक्रियाओं और प्रभाव,  
स्वतन्त्रता क्रांति तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सत्य हैं और उसके उपलब्धि की वे  
सभी स्थितियाँ भी अमिट हैं, जिनका मानव-मूल्यों, जीवन-स्वर, राष्ट्रीय  
अन्तर्राष्ट्रीय चेतना पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है ।

मानव चेतना और जीवभगत मूल्यों पर राजनीति-जर्मनीति का आशुचर्व-  
वनक प्रभाव पड़ा है। उसके सारे नैतिक, सामाजिक दृष्टिकोणों में स्वयं और  
विभटन का भाव प्रस्तुत है।

इस प्रेरणा और प्रवृत्ति में जो उपलब्धि अपनी मौखिकता और निजत्व के  
आमह और अनुभूति से इस चरण ने हिन्दी एकांकी-साहित्य को दी है, उसके  
उदाहरण-स्वरूप ये नाम और उनकी रचनाओं की कुछ बानधी इस प्रकार  
है—उपेन्द्रनाथ 'अशक' 'पर्व' उडाओ पर्व गिराओ', जगदीशचन्द्र भायुर  
'जो मेरे सपने' लक्ष्मीनारायण लाल के 'दूसरा दरवाजा' 'नापये हाउस में  
दंतकार' धर्मवीर भारती—'नदी पासो ली', 'नीली खोल'। विष्णु प्रभाकर  
—'मीना कहाँ है'। विनोद रस्वोगी—'काते कोए गोरे हंस' और विजित  
कुमार के 'श्रीन जघाहिव'।

इस चरण से हिन्दी एकांकी को अब तक जो स्वरूप मिला है, उसमें कला  
और टेकनिक के स्तर पर प्रयोगशीलता, यथार्थ जीवन बोध और उत्तरोत्तर  
अपनी कला की प्रतिबन्धिता बंधे का आमह सर्वत्र स्पष्ट है। अधिभय और  
रंगमंच की चेतना सजग हो गयी है कि एकांकी रचना और उसके विधास  
का स्वरूप पिछले चरण की अपेक्षा बहुत भिन्न लगने लगा है। निर्देश अंध,  
कथोपकथनों की सूक्ष्मता, प्रवेश-प्रस्थान पर धन, नाटकीय परिस्थितियों का  
सूक्ष्म चयन और उनका वैज्ञानिक ढंग से निर्वाह—इस चरण के एकांकियों  
के स्वरूप की पहचान है।



हिन्दी-नाट्य-शास्त्र

दुबारे रंगमंच और ना  
जितनी जिम्मेदारी और  
जिम्मेदार उस युग की  
सुधार-आन्दोलन तथा  
दूसरा दर्जा मिला।

भारतेन्दु का वह  
व्यापन की उपाय बना  
एक दूसरे ही अभिन्न  
और उसका रंगमंच  
उपलब्धियों से कहीं प  
सीधा सगाव था, कि  
बात, जो विशेष रूप  
नाट्य लेखन में विभि  
रंगमंच की सहज शक्ति  
प्रति मन आस्थावात्

और इसके बाद  
प्रेरणा और उसमें  
असंगत था। अपने  
अवधान-अवधान के

दुरारी और व्या  
अर्थात् नाटक अपेक्षा  
उस समय पार

राजनीति-अर्थनीति का आणव्य-  
प्रभाविक दृष्टिकोणों में ध्वंस और

अपनी नीमिकता और निराल के  
काफी-साहित्य को भी है, उसके  
में भी कुछ शानती इस प्रकार  
में गिराओ', जगदीशचन्द्र माधुर  
का दरवाजा' 'काफी हाउस में  
'नीली मंगल'। विष्णु प्रभाकर  
कोए गोरे हंस' और किर्तिन

को स्वल्प मिला है, उसमें कला  
की वीर्य और उत्तरोत्तर  
में व्याप्त है। अभिनय और  
रचना और उसके विधान  
कने सभा है। निर्देश अथ, 2  
नाटकीय परिस्थितियों का  
इस चरण के एकांकियों

□ □

## हिन्दी नाटक और नया नाटक

हिन्दी-नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु को धारा का आगे विमुक्त हो जाना  
दुसरे रंगमंच और नाट्य-लेखन की दिशा में एक कदम बढ़ना था। इसकी  
जितनी जिम्मेवारी आगे के नाटककार वर्ष पर थी, उससे कहीं अधिक  
जिम्मेवार उस युग की सांस्कृतिक चेतना थी, जिससे भारतेन्दु-युग के नायक  
सुधार-आन्दोलन तथा पुनरुत्थान के नाम पर इस कला-माध्यम को  
दूसरा दर्जा मिला।

भारतेन्दु का नव काव्य हिन्दी-नाट्य-लेखन और व्यावहारिक रंगमंच-  
व्यथा की उपा बेधा थी। उस समय नाट्य लेखन और रंगमंच कार्य दोनों  
एक दूसरे से अभिन्न कार्य समझे गये थे। साथ ही उस समय नाट्य लेखन  
और उसका रंगमंच अपनी संस्कृत, मध्ययुगीन नाट्य परंपरा और उसकी  
उपसंस्थियों से कहीं परिपुष्ट था। उसका अपनी भूमि और कला-संस्कार से  
सीधा लगाव था, जिसका चौड़ा फल हमें आगे देखने को मिलता है। तीसरी  
बात, जो विशेष रूप से इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, वह यह कि भारतेन्दु के  
नाट्य लेखन में विधि नाट्य-शैलियों तथा रंग-पद्धतियों की प्रतिष्ठा है, जिससे  
रंगमंच की सहज शक्ति का आभास मिलता है और इसके अपार मान्य के  
प्रति मन आस्थावाष् होता है। पर इतिहास ने ऐसा नहीं होने दिया।

और इसके बाद हिन्दी-नाट्य-लेखन का जो दूसरा अध्याय खुला, उसकी  
प्रेरणा और उसमें रंगमंच का स्वहृदय प्रायः अनिश्चित, काल्पनिक और  
असंगत था। अपने एकांत धर्म-रंगमंच से विमुक्त हो आगे नाटक सिर्फ  
अव्ययत-अव्यापन की सामग्री बनकर रह गया।

दूसरी और व्यावहारिक रंगमंच सारसी पिष्टर के हाथों में जन्म गया,  
जहाँ नाटक अपेक्षाकृत गौण था, मुख्य था उसका व्यक्तताप।

उस समय पारसी पिष्टर केवल हिन्दी क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि समूचे भारत-

वर्ग का रंग सत्य था। लगभग पाँच सौ वर्षों तक के सुलभायों कासन और संस्कृति के कारण जो भारतीय जनता मनोरंजन की भूखी थी, वह स्वभावतः इस पारसी रंगमंच के मनोरंजन में डूब पड़ी।

इसका प्रभाव समूचे युग और देश पर पड़ना ही था—क्या वर्णों के स्तर से, क्या अभिनेता, प्रस्तुतकर्ता और नाटककार के स्तर से।

हिन्दी-क्षेत्र में इस संदर्भ में एक विचित्र बात पड़ी। यहाँ भारतेन्दु के बाद सबसे पचास वर्षों तक अपना रंगमंच ही विलुप्त रहा। जनता मनोरंजन के लिए दिल्ली, कलकत्ता, सम्बई की ओर से आने वाली पारसी कम्पनियों के खेल (ठेकर) देखती रही।

किन्तु ठीक इसके विपरीत बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और मणिपुर में जनता अपना रंगमंच अबाध गति से पसन्द रहा था।

किन्तु जब पारसी रंगमंच का युग समाप्त हुआ, उस रंगमंच के स्थान पर जब सिनेमा आया—तब इस क्षेत्र में क्या गति हुई, इसका लेखा-जोखा बड़ा ही चमत्कर है। अस्तुतः सिनेमा के सामने पारसी रंगमंच इसलिए खतम हो गया कि सिनेमा ने यथार्थवाद और स्वाभाविकता के स्तर से एक नये प्रकार के अभिनय और प्रदर्शन को उसके सामने सा खड़ा किया। फलतः पारसी थिएटर के वे नाटक, जो गाना, नान, जोशीले भाषण, केरो-शाबरी तथा रोमांचपूर्ण घटनाओं तथा कथासूत्रों से निर्मित होते थे, सहसा मूर्खहीन हो गये। और सिनेमा के सामने यह सम्पूर्ण नाट्यधारा समाप्त हो गयी।

पर ध्यान देने की बात यह है कि पारसी रंगमंच के युग में हिन्दी-क्षेत्र को छोड़कर अन्य उन सब प्रान्तों में, जहाँ उनके रंगमंच अबाध गति से चल रहे थे, उन पर पारसी रंगमंच के तख्तों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कहीं न कहीं प्रभाव डाला था।

सम्भवतः बंगाल में पारसी रंगमंच के इन्हीं जमाये हुए तख्तों को छोड़ फेंकने तथा रंगमंचाला को घुड़-साफ करने के लिए टैगोर ने अपनी नाट्य-धारा का नयी गंगा बहाई है, और जिसकी कला अनेक अर्थों में प्रयोगवादी है। टैगोर के इस महत्व कार्य का फल बंगाल के नये नाट्य-संस्करण में स्पष्ट है। यहाँ सभी इतना रंगमंच कला-स्तर से जहाँ 'बहुकपी' 'सिद्धि थिएटर' 'मुस्ताबन' आदि के जैसे सफल नाट्य-प्रस्तुतीकरण संभव हैं।

किन्तु गेच अन्य प्रान्तों में, जहाँ टैगोर जैसा नाटककार नहीं आया, वहाँ

स्वभावतः वर्तमान समय कहीं न कहीं नाटक रहा पचास वर्षों की लम्बी इतना बड़ा व्यवधान हम कम से कम पारसी

स्वातन्त्रता-प्राप्ति रंगमंच का जो सर्वोच्च कार्य एक ही साधन गुण बाह्य सम्भवतः पारसी पचास वर्षों की र नाट्य-साहित्य के अ सामने दो गहन स्थि (क) नाटक का (ख) नाटक का कार को विरासत के हिन्दी में ये नाट्य मंच का अभिन्न अ नाटक लिखे -यह यह प्रश्न उठता है इसके लिए हि रंगमंच-अन्वेषण में नाटक का जन्म ही विभिन्न रंग-नीलम निर्माण की व्यापक

हिन्दी का नय का उदाहरण है, कि कितनी बारी, सम नाट्य अपने सही विशाल, अपूर्व क

स्वभावतः वर्तमान समय में भी उसके नाट्य-लेखन में जैसे वही पारसी रंगमंच कहीं न कहीं लौक रहा है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से समूचे हिन्दी-क्षेत्र में उन पचास वर्षों की लम्बी अवधि में जो रंगमंच की शून्यता आई जिसे रंगक्षेत्र में दर्शना क्या व्यवधान आया, हमारे लिए यह झूठि की बात नहीं सिद्ध हुई। हम कम से कम पारसी रंगमंच के उस प्रभाव से तो मुक्त रहे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समूचे भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र में रंगमंच का जो नवोन्मेष आया, इसमें रंगमंच-निर्माण और नाट्य-लेखन दोनों कार्य एक ही साथ शुरू हुए। यह गुप्त संयोग हिन्दी-रंगमंच क्षेत्र में भारतेशु के बाद सम्भवतः पहली बार घटित हुआ।

पचास वर्षों की रंगमंच-शून्यता और उस अवधि में पठन वाचन के लिये गए नाट्य-साहित्य के अध्ययन की वृद्धि कर उसके आगे हिन्दी के नये नाटककार के सामने दो गहन स्थितियाँ थीं :

(क) नाटक अपने व्यावहारिक रंगमंच के लिये निर्मित हो।

(ख) नाटक का और रंगमंच और रूपबंध क्या हो? क्योंकि नये नाटककार को विरासत के रूप में पचास वर्षों की केवल रंग-शून्यता प्राप्त थी।

हिन्दी में ये नाटककार ने इस तरह पहली बार अपने आपको प्रथमतः रंगमंच का अभिन्न अंग अनुभव किया। तथा वह रंगशास्त्र में ही बैठकर अपने नाटक लिखे—वह मूख पहला बार उसमें जागती है। पर उसके सामने तभी यह प्रश्न उठता है कि उसका रंगमंच है कहीं? किसर है? कैसा है वह?

इसके लिए हिन्दी का नया नाटककार नाट्य-लेखन के माध्यम से अपने रंगमंच-अन्वेषण में लगता है। और इस अन्वेषण-प्रक्रिया से हिन्दी में नये नाटक का जन्म होता है। नया नाटक अर्थात् रंग-नाटक! नया-नाटक अर्थात् विभिन्न रंग-धूलियों का नाटक! क्योंकि इसका उदय रंग अन्वेषण और रंग निर्माण की व्यावहारिक प्रक्रिया से शुरू हुआ।

हिन्दी का नया नाटक और उसका नया रंगमंच विभिन्न रंग प्रयोगों का उदाहरण है, किसी एक परंपरा का मासक नहीं। और न तो यह किसी वासी, समाप्त रंग पद्धति का 'हैंग ओवर' ही है। हिन्दी का यह नया नाट्य अपने लक्ष्य अर्थों में प्रयोग है, जिसने नाटककार तथा रंगकर्मी को एक विज्ञान, अपूर्व कर्मके प्रदान किया। इस रंगउत्साह तथा नव-जीवन के



पीछे व्यावहारिक रंगमंच की सामर्थ्य है, केवल बौद्धिकता ही नहीं। और यह सामर्थ्य अपने रंग-अन्वेषण तथा रंगमंच-प्रतिष्ठा में हिन्दी अथवा भारतीय रंगमंच की नयी पद्धतियाँ निर्धारित कर रहा है और साथ ही साथ उसी स्तर से उची रंगकर्मयोग से नाट्य-लेखन की सेवियाँ भी निमित्त कर रहा है। इस सबका व्यावहारिक कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी नाट्य प्रदर्शनों को एक गति प्राप्त हुई। काफी उत्साह से उठकर रंगकर्मी इस क्षेत्र में आए और हिन्दी का नया नाट्य लेखन प्रदर्शन शुरू हुआ। कई नाटककार प्रकाश में आए, साथ ही भारत की अन्य भाषाओं से भी अच्छे नाटक अनुदित होकर हिन्दी में आने लगे। सही वर्षों में इस तरह हिन्दी का रंगमंच राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका भूदा करने लगा। ऐतिहासिक और पौराणिक नाट्य धारा हमारे यहाँ की बड़ी ब्याप्त-धारा थी और इसमें 'कोणार्क' के लेखन के एक नई युगगत इस क्षेत्र में हुई। इसी तरह सामाजिक नाट्य धारा में 'मादा कैल्ड्स' जैसे प्रतीकवादी रंगकर्मी नाटक से सामाजिक यथार्थ का एक नया नाट्य शुरू हुआ।

आगे चलकर 'कोणार्क' और 'मादा कैल्ड्स' इन दोनों धाराओं का विकास हिन्दी में हुआ और 'अंता युग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'सहरों का रात्रहंस', 'रातरानी', 'दर्शन' इन सभी नाटकों से हिन्दी का रंगमंच महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा और एक गंभीर रंगमंच आंदोलन का सूत्रपात शुरू हुआ। किन्तु जब हम पिछले वर्षों के हिन्दी नाटक का लेखा-जोखा करी चसते हैं तो हमें सहसा यह बात याद आने लगती है कि इतने बड़े रंगमंच आंदोलन के होते हुए भी हिन्दी में शायद नाटक ही अन्य विधाओं की तुलना में सबसे कम लिखा जा रहा है और जितना लिखा भी जा रहा है उसका स्तर भी अन्य साहित्य-रूपों की कृतियों की अपेक्षा कमजोर है। दरअसल हिन्दी की ही यह स्थिति केवल नहीं है, प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में नाट्य-लेखन कम है और उसके प्रदर्शन और भी कम है।

इसकी वजह यह है कि नाटक रंगमंच का सत्य है और रंगमंच प्रदर्शन का। इसलिए इसका स्थिति प्राथम्य रूप से सामाजिक शोषण है। व्यक्ति सम्बन्ध नहीं।

गठ दो दशकों में हिन्दी नाटक और रंगमंच क्षेत्र में परंपरा, प्रयोग, प्राचीन और नवीन, पुरख और परिचय इन सब रंग-दृष्टियों का सम्यक् अध्ययन आरम्भ हुआ। हिन्दी-क्षेत्र के प्रमुख नगरों तथा संसदीय कसकला तक में संस्कृत, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक लेखे जाने लगे तथा नाटककार

पहली बार रंगमंच परीक के बीच के भीतर से कई मं लेखे—'मादा कैल्ड्स' का राजहंस' ता इसमें रंगमंच-प जीवन यथार्थ

पिछले क कई महत्त्वपूर्ण 'दिपाकु', 'कन्ये दन सभी नाट्य प्रस्तुत किया

'क्षेत्र-अ नया तन्त्राव हैं और इसमें सामने प्रस्तुत कि इसमें ए अवतरिण दू

'सुर राजनीतिक प्रतीक है नेता विधि व महा सेर समान मू सही निर्णय 'कर्म

जीवन को प्रविष्ट है इतनी व व्यतार

पहली बार रंगमंच के व्यावहारिक क्षेत्र में आया—अभिनेता रंग-खिली और दर्शक के बीच बैठकर कार्यरत हुआ। इस व्यापक परिवेश और रंग-वेदना के भीतर से कई महत्वपूर्ण शक्तियाँ आधुनिक नाटक हिन्दी में प्रवृत्त हुए— जैसे—'माया केवटस', 'अंधाधुन', 'आषाढ़ का एक दिन', 'राहरानी', 'सहरोँ का राजहंस' तथा 'दर्पण'—इन सभी नाट्य कृतियों को शक्ति यह है कि इसमें रंगमंच-यक्ष और साहित्य-यक्ष दोनों का समन्वय है और इन सबमें व्यापक जीवन बर्षार्थ बोध और रंग-दृष्टि पूर्ण आधुनिकता के अनेक संघर्ष भी हैं।

पिछले दशक में हिन्दी के अपने मौलिक नाट्य-लेखक जगत में और भी कई महत्वपूर्ण नाट्य-कृतियाँ आयी हैं, जैसे—'आधे-अधूरे', 'सुतुरमुर्ग', 'निर्वाणु', 'कलंकी', 'सूर्यमुख', 'मिस्टर अश्विनपु', 'विना दोबारा का घर', इन सभी नाटकों के माध्यम से समसामयिक समाज का यथार्थ रंग-चित्र प्रस्तुत किया गया है।

'आधे-अधूरे' में वर्तमान समाज के पति-पत्नी के सम्बन्धों में जो एक नया उनाच जाया है और जिससे बार-बार यह लगा है कि हमारे घर गहूरे हैं और इसमें रहने वाले दरगसि भी आधे-अधूरे हैं—इसका गंभीर चित्र हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है। इस नाटक का रंगमंच शिल्प भी इस अर्थ में नया है कि इसमें एक ही व्यक्ति कई व्यक्तियों को भूमिकाएँ लेकर इस नाटक में अवतरित हुआ है।

'सुतुरमुर्ग' एक राजनीतिक फंतासी है, जिसमें स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक तस्वीर बड़े मार्मिक मौलिक ढंग से प्रस्तुत की गयी है। सुतुरमुर्ग प्रतीक है हमारे उच्च राजनीतिक भावबोध का जहाँ निर्धन होने वाला राज-नेता स्थिति आने पर सुतुरमुर्ग की तरह अपनी गर्दन अंश-विच्छाद के शब्द में गड़ा लेता है। इसमें एक ऐसी नगरी की कल्पना की गयी है जहाँ राजा तमाम भूख चापपूस मंत्रियों के बीच फैसला करता है और वह कोई सही निर्णय नहीं ले पाता।

'कलंकी' एक ऐसा नाटक है, जिसमें 'हिन्दू मिथ' का प्रयोग आधुनिक जीवन बोध की अभिव्यक्ति के लिए किया गया। 'कलिक अवतार' की गप्पा प्रसिद्ध है और उसमें यह बताया गया है कि कलयुग में जब सारी समस्याएँ अपनी बिगड़ जाएंगी कि उनका इन मनुष्य नहीं ईँड़ पाएँगा तो कलिक अवतार होगा वहाँ सारी समस्याओं का समाधान करेगा। इस हिन्दू मिथ को

नाटककार ने व्यक्ति स्वतन्त्रता के मूल्यों के लिए हस्तेमान किया है। एक ऐसी काल्पनिक नगरी में इस नाटक की कथा शुरू होती है जहाँ अकाम पड़ा हुआ है, लोग मर रहे हैं और नगर में एक अमृत आकर लव-लपासना कर रहा है, चाकि काल्पिक अवतार हो और उसके अवतार से फिर लोग सुखी और सम्पन्न हों। इस परिधि में एक निर्वासित युवक अपने घर वापस जाता है और उस नगर के लोगों से कुछ बुनियादी सवाल करता है। 'सूर्यमुख' में पौराणिक संवेदना लेकर नाटककार ने पुनः आजादी के बाद की नयी पीढ़ी के बुनियादी सवाल को रंगरश्मि की है। यह नाटक उस दारिका के जीवन पर आधारित है जहाँ जब न कृष्ण हैं, न शपराम, न कोई अन्य बबोधुद। जहाँ केवल कृष्ण के पुत्र हैं और उनकी विधवा माताएँ हैं तथा दोनों तरफ से समुद्र दारिका को डुबाने जा रहा है। इस अंधेरे संसार में सूर्यमुख है, कृष्ण का ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न और उनकी प्रिया देवतुरी। 'मिस्टर अभिमन्यु' एक सामाजिक नाटक है, जिसमें परोक्ष में वही हिन्दू मिथ ब्रह्मण्युह में फंसे अभिमन्यु का— कार्यरत है। आज का मनुष्य अपने ही बनाये हुए ब्रह्मण्युह में फिस तरह फँसा है और वह किस तरह बिना जके हुए मारा जाता है, इसका एक महत्वपूर्ण यस्तावेज इस नाटक में मौजूद है।

'बार अपाहिण', 'एक स्थिति' और 'बिना दीवार का घर', ये नाटक भी इन पिछले वर्षों की उल्लेखनीय नाटक-कृतियाँ हैं और इनके शोकिया रंमंथ को बल मिला है।

इसके हिन्दी नाटक पर जब हम विचार करते हैं तो हमारे सामने मौलिक हिन्दी नाट्य लेखन के प्रकार में कई नाटक आते हैं। (१) गिरिराज किशोर लिखित 'सरमेध', (२) 'हत्या एक आकार की' जिसके लेखक हैं जलित सहाय, (३) मोमना भूटानी द्वारा लिखित 'बापद हूँ', (४) सुरेन्द्र वर्मा लिखित 'दोपदी', (५) आर० जी० आनन्द द्वारा लिखित 'बसदल' और (६) मयवतीचरण वर्मा द्वारा लिखित—'रुपया तुम्हें आ गया।'

**अनुदित और रूपान्तरित**

हिन्दी में अन्य साधाओं से अनुदित और रूपान्तरित भी कई नाटक, इसर सामने आये हैं। अनुवाद के क्षेत्र में बंगला का 'छावानट', जिसके मूल लेखक कल्पलक्ष और अनुवादक हैं—कृष्णकुमार : अन्य बंगला नाटकों में हैं—मादन सरकार का 'एवं हलजोत', 'बाकी इतिहास', 'सादी राती' और 'पगला घोड़ा।'

कथक नाटक  
हैं। इनमें कुछ  
कुशलता से वि  
कपाट का हि  
में अनुदित क  
'निषाद' प्रमु  
समसायिक क

सरोजनी  
हैं' भादि क्यु  
विदेशी न  
प्रकाशन और  
मेविसप गोर  
मिनेजरी) —  
आधाज (एत  
(६) गोडो के  
अल्देव वैद; (३  
(६) गेडा (रा  
ईस्लमन को म  
का स्वांग (पु  
इसके हि  
वी० एम० ए  
मौलिक नाटक  
प्रस्तुत किया  
शिल्प की जो  
साथ व्यक्ति अ  
जित तरह के  
उसमें ताकती  
सुरेन्द्र वर्  
और जिसका प्र  
अपने आप में  
नाटक में 'दोप

कमल नाटक के हिन्दी अनुबाव 'सुनो जनमेजय', 'सुगमक', 'हृदयवन' जल्लोचनीय हैं। इनमें कुछ नाटकों के अनुवाद प्रतिभा मगधवास और वैमिशत्र वैत ने बड़ी कुशलता से किया है। 'अरासंघ' की बंगला कहानी 'लोहे की बीमार' (सोह कपाट का हिन्दी नाट्य रूप) अनिल कुमार मुखर्जी ने किया। बंगला से हिन्दी में अनूदित अन्य नाटकों में कृष्ण कुमार द्वारा अनुवादित मोहित चटर्जी का 'निशाद' प्रमुख कृतियाँ हैं, जिन्होंने हिन्दी के माध्यम से बंगला नाट्य साहित्य को समसामयिक उत्पीर निभायी है।

सरोजिनी वर्मा द्वारा सराठी के दिग्गज तंतुसकर के नाटक 'पंछी ऐसे आते हैं' का हि अनुबाव भी प्रसिद्ध है।

विदेशी नाटकों के कई अनुबाव इसर हिन्दी भाषा में आए हैं और उनके प्रकाशन और प्रदर्शन भी हुए हैं, जैसे—(१) तलछट (लोमर देवण्य)—मैक्सिम गोर्की : अनुवादक जीव वर्मा (२) काँच के खिलौने (ए ग्लास सिनेमरी)—टेनेसी विलियम्स : रूपान्तरकार : हरिकिशन मास प्राधर (३) आवाज (एन इन्सपेक्टर कॉन्स)—जे० वी० प्रोस्टले : अनुबावक : कृष्णकुमार (४) गोडो के इंतजार (वेटिंग फोर गोडो) समुजल बेकेट : अनुवादक : कृष्ण मल्होत्रा (५) इन्साफर—समुजल बेकेट, अनुवादक, अनिल कुमार मुखर्जी, (६) गेजा (राइजोसेरस) आयनेस्को, अनुवादक, अनिल कुमार मुखर्जी, (७) ईस्टमैन की मोत, आर्थर मिलर, अनुवादक, अनिल कुमार मुखर्जी, तीन टके का स्वांग (थ्री पेनी ऑपेरा) बर्टोल्ट ब्रेक, अनुबाविका : सुरेखा शोकर।

इसर हिन्दी के मौलिक नाटकों में मुद्राराक्षस, सुरेन्द्र वर्मा, बलराज पंडित, वी० एम० झाङ्ग, अमृतदास, ज्ञानदेव अम्बिहोत्री, गोमना भूटानी ने अपने मौलिक नाटकों में समसामयिक जीवन और समाज का ठीके ढाँचा देखा बिच प्रस्तुत किया है। इस नाट्य कृतियों में एक नए प्रकार के रूपबंध और नए हित्य की खोज है और साथ ही इन नाटकों में बड़ी निर्भयता और विश्वास के साथ व्यक्ति और समाज के समसामयिक सन्तर्ष को चित्रित किया है। इसमें बिच तरह के संवाद और संवादों की जिस प्रकार की भाषा इस्तेमाल हुई है, उद्यमें साबगी है और समसामयिक रंगमंच के संकेत है।

सुरेन्द्र वर्मा द्वारा लिखित 'द्वीपदी', जिसका प्रदर्शन त्रिमान्तर ने किया और जिसका प्रकाशन अंतरंग म हुआ, यह नाटक कई भाषाओं में दिग्गज है और अपने आप में सुबन का एक अन्ध उदाहरण है। इस समसामयिक सामाजिक नाटक में 'द्वीपदी' का हिन्दू बिच अच्छे ढंग से चार्किटिक रूप में इस्तेमाल

इस्तेमाल किया है। एक ही ही है अहाँ अकाल पहर आकर नर-उपासना कर नर से फिर लोग सुखी और अपने घर वापस आता है करता है। 'सूर्यमुख' में तो के बाद की तयी पीढ़ी के इस इतिहास के पीढन पर कोई अन्य बयोपुत्र। अहाँ है तथा दोनों तरफ से समुद्र में सूर्यमुख है, कृष्ण का जेठ अशिमभ्यु' एक सामाजिक समुद्र में फंसे अशिमभ्यु का— अशिमभ्यु में किस तरह फंसा है, इसका एक महत्वपूर्ण

वेधार का घर', ये नाटक की और इनसे अधिकिया रंगमंच करते हैं तो हमारे सामने आते हैं। (१) विरिराज की जिसके लेखक हैं ललित द ही', (४) सुरेन्द्र वर्मा लिखित 'बलरत' और (६) गया।

रत

विश्रित भी कई नाटक, इसर अम्बानट', जिसके मून लेखक बंगला नाटकों में हैं—बादल सती' और 'पगमा थोका।'

हुआ है। मूल पात्र है मन मोहन और चार नकाब वाले हैं, बैसाखी के साथ और ये पाँचों पात्र इस नाटक में नसी, दीपदियों के वर्तमान मयार्थ को उद्घाटित करते हैं। यह दो अंकों का नाटक है और पहला अंक दिन के वक्त पर में संपादित होता है और दूसरा रात के वक्त पर के बाहर संपादित होता है। सुरेखा इस नाटक की धूमसार है और नयी सबसे अधिक शीपवी के विष को अपने में समेटने और प्रकट करने में सफल है।

'दीपदी', 'पाचनों सवार', 'करफ्यू' और 'अबदुल्ला बीबाना' नाटकों में कई रंगमंचीय प्रयोग हुए हैं और ऐसा भी लगता है कि अपनी बुनियादी बात करते के लिए नाटककारों ने कई विदेशी और भारतीय नाट्य-परम्पराओं को मजबूती इस्तेमाल किये हैं। ऐसे साहसिक प्रयोग हिन्दी के नये रंगमंच को तत्काल में बहुत सुलभवान हैं और इनसे हिन्दी रंगमंच को बहुत बल मिलेगा। इन नाटकों की भाषा, कथ्य इनका रंगमंच पत्र, दोनों सक्षम हैं और इनका अपना एक प्रभाव है, जो पढ़ने से भी हमें प्राप्त होता है और देखने से भी :

पिछले वर्षों में भारत की एक किसी भी भाषा में लिखा हुआ कोई भी उल्लेखनीय नाटक ऐसा नहीं रोष रह चुका है, जिसके अनुवाद और प्रस्तुतीकरण हिन्दी में न हुए हों। इसलिए हम बड़े विश्वास से कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच का जो महत्वपूर्ण चरण प्रारम्भ हुआ उसका महत्व विकास पिछले दशकों में हुआ है। इन वर्षों में लेखन, प्रदर्शन और रंग समीक्षा तथा दर्शक के सीधे-सीधे में परम्परा का प्रयोग, प्राचीन और नवीन, पुरक और पश्चिम, खेचत अखेचत इन सभी रंग-दृष्टियों का विकास हुआ है।

□ □

पश्चिम का और पर्यायों का का जीवन अभी क्या है, कहाँ है।

रंगमंच की हर प्रस्तुतीकरण के लिए फिर कि कि नाटक और है। हकी नियमों गत-वक्त में वेदा को है। साम् दुनिया में एक तरहू दूसरी और दोनों स्थितियों सम्पूर्ण नाटक और जीवन के रंगमंच तैयार देश-काय (टाइम रंगमंच (सिम वि

गत दशक और 'एजसर्ब' (1

हुआ है। मूल पात्र ही मन मोहन और चार नकाव वाले हैं, बैरागों के साथ और ये पांचों पात्र एक नाटक में बसी, द्रोपदियों के वर्तमान यथार्थ को उद्घाटित करते हैं। यह दो अंकों का नाटक है और पहला अंक दिन के एक घण्टे में संपादित होता है और दूसरा रात के अन्त घण्टे के बाहर अरिजार्थ होता है। सुरेखा इस नाटक की सृजक है और वही सबसे अधिक द्रोपदी के विषय को अपने में समेटने और प्रकट करने में सफल है।

'द्रोपदी', 'पाचवीं सवार', 'करमभू' और 'अब्दुल्ला दीवाना' नाटकों में कई रंगमंचीय प्रयोग हुए हैं और ऐसा भी लगता है कि अपनी बुनियादी बात करने के लिए नाटककारों ने कई विदेशों और भारतीय नाट्य-परम्पराओं को बखूबी इस्तेमाल किये हैं। ऐसे साहित्यिक प्रयोग हिन्दी के नये रंगमंच को गलाम में बहुत मूल्यवान हैं और इनसे हिन्दी रंगमंच को बहुत बल मिलेगा। इन नाटकों की भाषा, कथ्य इनका रंगमंच पत्र, दोनों सबसे हैं और इनका अपना एक प्रभाव है, जो पढ़ने से भी हमें प्राप्त होता है और देखने से भी।

पिछले वर्षों में भारत की एक किसी भी भाषा में लिखा हुआ कोई भी उल्लेखनीय नाटक ऐसा नहीं हो सके है, जिसके अनुवाद और प्रस्तुतीकरण हिन्दी में न हुए हों। इसलिए हम बड़े विश्वास से कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच का वो महत्वपूर्ण चरण प्रारम्भ हुआ उसका महत्व विकास पिछले दशकों में हुआ है। इन वर्षों में लेखन, प्रदर्शन और रंग समीक्षा तथा दर्शक के सोशियल में परम्परा का प्रयोग, भाषीन और नवीन, पुरक और पश्चिम, खेड-खेड इन सभी रंग-रूटियों का विकास हुआ है।

13

पश्चिम का और मर्दानों का जीवित अभी क्या है, कहाँ है,

रंगमंच की हर प्रस्तुतीकरण के लिए फिर कि नाटक और है। इन्हीं मियमों गत उक्त में पैदा को है। साथ दुनिया में एक अ तरह दूसरी ओ दोनों स्थितियों सम्पूर्ण नाटक को और जीवित के रंगमंच विचार देश-काल (टाइम रंगमंच (लेब वि

गते दर्शक और 'एक्सर्ट' (1

नकार वाले हैं, बैसाखी के साथ  
 औपचारिकों के वर्तमान यथार्थ को  
 है और पहला अंक दिन के एक  
 बका पर के बाहर परिताप होता  
 वही सबसे अधिक औपवी के निय  
 न है।

और 'अन्धकार दोबाना' नाटकों में  
 गता है कि अपनी बुनियादी बात  
 और भारतीय नाट्य-परम्पराओं  
 प्रयोग हिन्दी के नये रंगमंच की  
 रंगमंच की बहुत बल मिलेगा।  
 पका, दोनों समल हैं और उनका  
 प्राप्त होता है और देखने से भी :

भी भाषा में सिखा हुआ कोई भी  
 है, गिखते अनुवाद और प्रस्तुती-  
 बने विश्वास से कह सकते हैं कि  
 नाटक और रंगमंच का जो महत्वपूर्ण  
 देखने दृश्यों में हुआ है। इन वर्षों  
 के सोवियतों में परम्परा का  
 रंगमंच, खेप्ट अखेप्ट इन सभी रंग-

७ ७

## परिशिष्ट

### आज का पश्चिमी नाट्य

पश्चिम का आत्रकाल का नाट्य, अपने आधुनिक समसामयिक सीमाओं  
 और मर्यादों को पारकर आज यहाँ पहुँचा है—वह है क्लृप्त, एक्सर्स के बाद  
 का अविश्व अवीश्व रंगमंच। हिन्दी नाटक और रंगमंच की तुलना में यह  
 बड़ा है, बड़ा है, इसका अध्ययन मनोरंजक हो सकता है।

रंगमंच की बुनिया की याद बड़ी क्लृप्त होती है। यह इसलिए भी कि  
 हर प्रस्तुतीकरण उसी रात खत्म हो जाता है और अगले दिन उसकी पहचान  
 के लिए फिर किसी नए प्रस्तुतीकरण की अनिवार्यता होती है। यह इस लिए  
 कि नाटक और इसका रंगमंच किन्हीं नियमों से सख्ती से बंधा हुआ होता  
 है। इनकी नियमों को तोड़ने का साहस और हर रात 'खत्म' हो जाने के घबरे  
 गत दशक में पश्चिम के रंगमंचीय संसार में कुछ बड़ी विचित्र स्थितियाँ  
 पैदा की हैं। सामाजिक-नैतिक स्वतन्त्रता के साथ जिस तरह पश्चिम की  
 बुनिया में एक ओर अक्सर और बाजार का निर्माण, तेज भाव पड़ा है, उसी  
 तरह दूसरी ओर इतमें अस्वीकार ही जाने का समय भी मिलता है। इन  
 दोनों स्थितियों के जो प्रतिफल अमेरिका और यूरोप में हुए हैं। एक ओर  
 सम्पूर्ण नाटक और रंगमंच के नाम पर घोर बला रंगमंच पतन है तो दूसरी  
 ओर अविश्व के नाम पर 'क्लि एण्ड स्टेज' का कामा-गोरा, बीमार-गोरा  
 रंगमंच पैदा हुआ है। तीसरी ओर क्लृप्त और उसके विद्येटर के साथ के  
 ट्रेल-काल (टाइम-स्पेस) के प्रयोग में वास्तविक प्रतीति के लिए प्रयोगशाळा  
 रंगमंच (सेन थियेटर) स्थापित हुए हैं।

गत दशक में यह सब शकती लेनी में हुआ है और हो रहा है कि 'एपी'  
 और 'एक्सर्स' (जिसकी अभी हजर चर्चा शुरू हुई है) जैसे रंग-आन्वेषन का

प्रवृत्तियाँ भी पश्चिम के लिए काफी, पुरानी और निरर्थक हो गयी हैं। साहित्यिक स्तर के आक्रोश, विरोध, विद्रुप और विडम्बना का वह मंच समाप्त हो गया जो छठे दशक में 'एंग्री यंगमैन' और एन्सर्ट के अनुभावियों के हाथों विकसित हुआ था। इसके दुस्ताहसी समझे जाने वाले नाटककार सीडेपन और भर्तृहरि के आत्म में कतई उलझ गये और उनका शैक्षिक दुस्ताहस फीका नजर आने लगा।

इसे वहाँ के सामाजिक और नैतिक सन्दर्भ से उदाहरण दे कर ज्यादा स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे पश्चिम का समाजशास्त्रीक मनुष्य 'अव्यवस्था' से तंग आकर अव्यवस्था में अपने को उठा कर स्वयं को उत्साह या अलगाव रखा है, उसी तरह वह रंगमंच, संस्था, संकीर्ण और अपने जीवन को देखना चाह रहा है। जाहिर है, वैसा जहाँ का मनुष्य होगा, उसी के अनुरूप उसकी व्यवस्था अव्यवस्था होगी। पर वह वहाँ आज सबसे ज्यादा जाहिर है कि वह अव्यवस्था मूलतः सैक्स के मनेवन और भय अपराध के ठण्डेपन पर टूटी है।

एतमें अमेरिका सबसे आगे है। वहाँ का मनुष्य दुर्भाग्य से सैक्स की स्वतन्त्रता को ही मनुष्य की सुविधा समझता था। वहाँ का शक्ति अपने सामाजिक-व्यक्ति कार्यों से अपने आपकी इसका निर्णायक मानता है कि वह क्या पके और वह क्या देवे। और उसके लिए वह सैक्स की भ्रष्ट की ईमानदारी में सबसे पहले ईमानदार सिद्ध होना चाहता है। इस सच्चाई को दो परस्पर-विरोधी नजरियों से देखा जा सकता है—समाज-सुधारक दृष्टि और वैज्ञानिक दृष्टि।

जीवन को गति की भयानक तेजी, बेहद तेज बढ़ते हुए, मानसिक अकेलेपन और इसकी तमाम परिणतियों (गोली खाने से लेकर चार वर्षों के कर्कों की दुनिया तक) के बीच आज का अमेरिका समाज सैक्स की आबादी से जुड़ा है, उसका फल यह हुआ है कि उसके लिए 'सैक्स' अब एक देखे जाने वाला सैक्समाया मात्र रह गया है।

रंगमंच से दूर भागता हुआ दर्शक वर्ग। पटक में जिस सैक्स का मर्चा देखने जाता है, वह मर्चा रंगमंच में क्यों नहीं? नाटककार, निर्देशक और विक्टर में पूर्वी लगाने वाले, इन तीनों ने यह तय किया कि 'मर्चा शरीर' मर्चा-बोध के लिए अनिवार्य है। नाटककारों ने कई ऐसे माध्य-प्रदर्शन किए और उनके एक पात्र ने जो यह सुनीती तक दे डाली कि तन शरीर की यह कान्ति अन्य कान्तियों से भी ज्यादा कान्तिकारी है।

'फारम इन प्रिंसिपल' के अन्तर्गत बौद्ध बिल्कुल और मानसिक भी इसी दिशा

हो० ए उस भाषात आर्गा, या पर भाव क जा कर एक उदाहरण है

तेज म ने निस्सन्देह सपेक्ष है। और अफिने के एक प्रति पूरी तरह है। नव के यन्त्रों से त तन्त्र को म

रंगमंच के लिए नि हैनसेट को

हरी काम नहीं मानसिक कार्य 'एक नाद की ही न च



कीर निरर्थक हो गयी है।  
 र विडम्बना का वह संघ  
 कीर एवम् के अनुसामियों  
 समझे जाने वाले नाटककार  
 बह गए और उनका शैक्षिक

से उवाहरण दे कर ज्यादा  
 समासमयिक मनुष्य 'अनस्था'  
 स्वयं की उत्साह या अतसाह  
 कीर अपने जीवन को वेधना  
 होगा, उसी के अनुरूप उसकी  
 ज सबसे ज्यादा आशिर है कि  
 अस्वस्थ के अस्वस्थ पर हटी

दुर्भाग्य से सेवक की स्वतन्त्रता  
 का अर्थ अपने सामाजिक-  
 न्यायिक मानता है कि वह अपरा  
 के स्वयं की भूष की ईमानदारी  
 है। इस सचार्थ को दो परस्पर-  
 सुधारक दृष्टि और वैज्ञानिक

बढ़ते हुए, मानसिक अकेले-  
 से लेकर चार वर्षों के अर्थों  
 समाज सेवक की आजादी से  
 लिए 'सेवक' अब एक देले जाने

क वर्ग। इत्य से किस सेवक का  
 नहीं गयी? नाटककार, निर्देशक  
 नहीं ने एह सब किया कि 'नंगा  
 नाटककारों ने कई ऐसे नाट्य-  
 बह बुजोती एक दे जाती कि  
 से भी ज्यादा कामिणकारी है।

'फारबूट इन मेम्बर आइज' नाटक में (जिसका विषय है 'समर्पणिकता'),  
 जिसके अत्यन्त सफल प्रदर्शन 'लास ऐंजिल्स' में हुए, वही अभिनेताओं के  
 बीच बिल्कुल मिल कर बैठे हुए दर्शक वर्ग को अपनी अर्थों के सारोरीक  
 और मानसिक अनुभव प्राप्त हुए। मार्टकाइले का 'स्वाइज इन द वेज'  
 भी वही विषय और प्रकृति का दूसरा नाटक है।

डी० एच० मारेस ने बहुत पहले सिखा था कि दुश्हारा परिषय (उसके)  
 उस आशात और अपमान से होगा जो मुख्यतः तुम्हारे द्वारा उसको दिया  
 जाएगा, या उससे प्राप्त होगा। उसने यह कथना 'सेओ वेदनी' में व्यक्त की,  
 पर आज अमेरिका का नव-नाट्य लेखन और प्रदर्शन उसकी कल्पना में न  
 आ कर इही की ही सच्चा सम्पन्न मानता है। 'लिबर्टीज' नाटक इसका  
 उदाहरण है।

ऐज व्यावसायिक समाज में बहती हुई अवासी, निरपेक्षता और अज्ञानजीवन  
 ने निस्सन्देह उन कलाओं के लिए खतरा और बुजोती पैदा की है जो दर्शक-  
 सापेक्ष हैं। विशेष कर रूथ और नाटक के लिए। क्योंकि इनके लिए दर्शक  
 और अभिनेताओं की पारस्परिक सम्बन्धता बुनियादी अर्थ है। इसके लिए आज  
 के एक प्रसिद्ध कोरियोग्राफर राबर्ट जार्ज ने 'एथर्न वेल्स' के अर्थों दर्शक को  
 पूरी तरह सम्बन्ध करने के लिए वेले के मूल तर्कों की ही नष्ट कर दिया  
 है। मर्ष के स्थान पर नंगा करीर, संगीत के स्थान पर बिजली के अर्थों  
 मन्वों से तरह-तरह के नाद, बोल, और अराव्य की सृष्टि और अन्य तरह-  
 तरह की यान्त्रिक मुद्राएँ रख कर इस उद्देश्य को पूरा करना चाही है।

रंगमंच के क्षेत्र में स्वातंत्र्यी नाटकों से आज के दर्शक-वर्ग को सम्बन्धित करने  
 के लिए निर्देशक 'जोसफ पाप' ने भूपार्क में बनासिग पाप जैसे ओडिबस  
 हैमलेट को आज के दर्शकों में प्रस्तुत किया।

इसी तरह आज पश्चिम के दर्शक-वर्ग की रचनाशला में हुंसाया आसान  
 काम नहीं रह गया है। क्योंकि उनके जीवन में जो अकेलापन संसार कीर  
 मानसिक बीमारियाँ प्रकट हो रही हैं, उनके भीतर से हँसाने, घबका देने का  
 कार्य 'एम्सवर्ड' नाटकों ने अपने अंग से पूरा कर दिया है। अब समस्या इसके  
 बाव की है, जहाँ मनुष्य में कोई विशेष प्रतिक्रिया ही नहीं होती - न हँसाने  
 की न अत्यन्त होने की, न रोने की। इसलिए अब वहाँ कुछ नए टंक की

सुखाभित्ति पत्नी है, जैसे—'कामेडी ऑफ एंग्लिस', 'ड्रेक कामेडी, तथा 'सिक कामेडी'।

वास्तव में पश्चिम के समाज में आज जो मानसिक स्थितियाँ हैं, सुखाभित्ति उन्हीं के भीतर से ही सिखी जाएगी और उसी रूप में मंच पर प्रेक्ष होगी। उदाहरण के लिए पीटर निकोल्स की एक सुखाभित्ति है 'जो एग' जहाँ दो अलग-अलग धर्म-नाम के बीच एक लड़का खड़ा है और इसके चारों ओर निरपेक्ष मनुष्य खड़े हैं। अब यह देखना है कि उन लोगों का इस बारे में रवैया क्या है—मर्ती से हँसी की कैमिस्ट्री शुरू होती है। और इसी प्रक्रिया में वे सारे मानव-सहस्रन होते हैं जिन्हें आप 'कासा', 'बीमार', 'बचना और ऊना' कह सकते हैं।

एक्सर्ड ड्रामा में कुछ न कुछ गलत, वापस तो ये, यहाँ तक कि बेकेट के 'बेटिंग फार गोल्ड' में भी, पर उसके उपरान्त की स्थिति अब शायद अनिर्वचनीय है। क्योंकि अब शब्द-शब्द न ही कर विनोदेष चिन्तिया है, जिसे नाम खाया जा सकता है या जो उछाला जा सकता है। शब्द-व्यवहार के लिए जिस मानसिक आवरण-प्रदान को अनिवार्यता है जिन शोषों की सजलता की प्रकृत है, जिसे वृत्तिमापी नैतिक सुबोधता की व्यावश्यकता है वह शायद यहाँ गायब हो रहा है। इसलिए अब बहू नाटक और रंगमंच इन दोनों स्तरों का 'कामसूच' की निःशब्द स्थितियाँ प्रयास चल रही हैं। उनसे एक ओर दर्शक की सुस्पष्ट भाव स्थितियाँ विद्युत् दृष्टिय स्तर पर जगाई जा रही हैं, तथा दूसरी ओर मानसिक रिक्तता को शरीर, अंग, मारकाट, हृत्था, मुख्यम-मुत्था से पाटा जा रहा है। 'हेयर' और 'जोहू कैलकेटा !' जैसे नाटकों में स्त्री-पुरुष के नंगे समूह-दृश्य ही नहीं, बल्कि शब्द नाटक भी है, जिसे चित्रित करने के लिए दृष्टन से से कर अस्थी तक इतने सारे शब्दों, विम्बों की आवश्यकता महसूस हुई थी।

ड्रामा अपने मूल सन्दर्भ में संघर्ष था, अब बहू ड्रामा भीतर से मूल्य हो कर केवल बाहर गुरीला-युद्ध करना चाहता है। सतिफांसिस्को में रोनी डेरिस का 'माइमडू' अमेरिका का शस्त्र करने के उद्देश्य से नाटक की रचनाएँ कर रहा है और उसे उसी तरह मंच पर प्रस्तुत कर रहा है। अफ्रीका का साइजे-रियम डेलस्वभिन्ता को प्रसिद्ध कृति 'कींगी हार्बेस्ट' इसका एक उत्पन्न बहु-चर्चित उदाहरण भी है। इस नाटक में उसने नृत्य को उसी संघर्ष-युद्ध के ही रूप में हस्तेमान किया है।

धर्मि  
(एकपाकी)  
विश्वविद्या  
वाक्यित  
की जाती  
पुनी स्थि  
'बिटनेस'  
बाँध कर  
कर रहा।  
अब यह  
हूँ न बि  
तो मोग  
नाल हो  
मानते हैं  
चाहिए।  
यह शब्द  
अमे  
नाटकक  
व्यवसाय  
तक। के  
बनाया  
साभिक  
जुटा का  
अनाबप  
तथा दस  
विधा र  
एक बप  
निसर  
रहे हैं,  
में इका  
का म

कुम्भ', 'ब्लैक क्रासेडी, तथा

स्वस्थिमा है, सुजातकी  
मंच पर देखा होगी। उदा-  
'जो एग' जहाँ दो अलग-  
के चारों ओर निरपेक्ष मनुष्य  
स चारे में रवेण क्या है—  
प्रक्रिया में वे सारे मानव-  
और कमा" कह सकते हैं।

ही वे, यहाँ तक कि बेकेट के  
का की स्थिति अब कायम  
मिलोपण चिह्नित है, जिसे  
है। शब्द-व्यवहार के लिए

व्यवस्था की सजगता की  
आवश्यकता है वह भाव्य  
नाटक और रंगमंच इन दोनों  
का चल रही है। इनसे एक  
य स्वर पर धगाई जा रही  
य, मारकाट, लुप्ता, गुल्म-  
केलकेटा !' जैसे नाटकों में  
नाटक भी है, जिसे चित्रित  
वे सारे शब्दों, बिचकों की

ही हुआ भीतर से प्राय ही  
अनपेक्षितको में दोनो केबिस  
से नाटक की रचनाएँ करा  
रहा है। अफ्रीका का नाथले-  
'दु' इसका एक अत्यन्त बहु-  
थ को उसी संघर्ष-युद्ध के ही

अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली आदि अनेक देशों में एकर 'मनएक्टर'  
(एकपाती) छोटे नाटक ज्यादा सिधे और सेवे जा रहे हैं— विशेष कर कासैजों,  
विपयविचारसर्जों और कम्प्यूनिटी थियेट्रों में। इन नाटकों में दर्शकों को  
आकर्षित किए रखने और उन्हें मंच से बाँधे रखने से लिए एक नंगी सड़की बैठा  
को जाती है, और एक अभिनेता अपना एकाकी अग्रिमय करता है। अर्थात्  
नंगी स्थिति मंच-सामग्री के रूप में इस्तेमाल हो रही है, और कुछ नहीं।  
'विटनेस', 'होटे इरोज' नाटक में एक नंगी सड़की दर्शकों के सामने कुर्सी पर  
बौध कर बिना ही गयी है और उसे बौधने वाला सड़का 'मोमालाग' (एकसाध)  
कर रहा है; सड़की मंच-सामग्री की तरह अिल्लुल जड़ और चुप है। पहले-पहल  
जब यह कोपित हुआ था कि राबर्ट एण्डरसन के नाटक 'आई कोट थियर यू  
हूँ' में वि वाटर इन रनिंग' में एक व्यक्ति कपड़े उधारता हुआ दिखाया गया,  
तो ओग सिर्फ हँस पड़े। यों आज मंच पर मनुता का प्रदर्शन एक साधारण-सी  
जान हो गयी है। पर अब भी कुछ मंच से सम्बन्धित व्यक्ति ऐसे हैं जो यह  
मानते हैं कि मनुता का प्रयोग किसी नाटकीय स्थिति के लिए ही होना  
चाहिए।

यह नाट्य दृश्यता कथना बोलपन क्यों ?

अमेरिका, इंग्लैण्ड यहाँ तक कि जर्मनी और फ्रांस में नाटककार की सृज-  
नात्मकता और उसकी कल्पना किसी न किसी तरह से एक ओर उद्योग-  
व्यवसाय तक सीमित हुई है, दूसरी ओर उसके स्थापित होने के बहुकारतीय  
तक : बेकेट, आर्थर मिलर, फिन्टर, आइनेस्को, जॉ जेने, जोसबर्न और एस्को जैसे  
गणमान्य नाटककार तक फिल्म, टेलीविजन और रेडियो के लिए विस्तृत आक-  
साधिक स्तर के नाटक सिधने के लिए बाध्य हुए हैं। विद्यापन-संस्थाओं ने घन  
सुधा कर नए प्रतिभाशाली नाटककारों को खरीदा है और वे बाहरी-भीतरी  
अनात्मकता बनाव के कारण धिके भी हैं। और लोगों को यह महसूस करने  
लगा बर्बोस देने की स्थितिमा किसी है कि नाटक और रंगमंच अब एक विच्छेदो  
विधा रह गयी है और कुछ नहीं। इस सृष्टिपन, रिक्तता के कुछ समूह एकर को-  
एक वर्षों में धाए हुए नाटकों से मिलते हैं। यह प्रायः सभी धाकते हैं कि आर्थर  
मिलर और टेलिडी विसियम गत दो दशकों में अफ्रीकी रंगमंच पर उसी तरह छाये  
रहे हैं, जिस तरह हेडिगवे और फाकनर क्या-जेन में। मिलर नाटककार के रूप  
में इन्डम की यथार्थवादी परम्परा का नाटककार है, जो अपनी चेतना में मार्क्स  
का मालसपुत्र है। इसी तरह टेलिडी विसियम बेकब की परम्परा का नाटक-

कार है; जो अपने मनोविज्ञान में फायर का मानसपुत्र है। बाय के दोनों अपनी परम्परा और केशना से मिल्कुल कट गए हैं। बिस्वर का मकीनघम ड्रामा है 'वी प्राइस'। यह कृति अपनी संरचना और बोध में १९३० के काल की है। बिस्वर का लिखार है अमात्र के बचने पर ही मनुष्य अपने सम्मान, मर्य और मूल्य को प्राप्त कर सकता है। १९६० में, जब कि ईकेट, जार्जेस्को, जेने जार्जि ने बीसवीं शती के वर्तमान मनुष्य के अस्तित्व को ही जलनी जयानकता से देख लिया है, यह विषय अघाट और बचकाना मायूम होता है।

दूसरा जवाहरलाल टेलिगी विज्ञियम के नए नाटक 'द सेवन डिसेन्स ऑफ मिटिस' का है। इसमें उसके पुराने नाटकों के इतर-इतर के बच्चे-बुद्धे दुकन्दे, सम्बाद और टम्बप्रमाण सब दिसे गये हैं। इसमें उसके बच्चे-बुद्धे हुए नाटककार की 'नोस्टेल्लिया' के अतिरिक्त और क्या है। इसी तरह दूसरी कोटि के नाटककार, विज्ञियम हंस, एण्डरसेन, देसी केफिस्को, अपने-अपने लिखारों के अघ्यापक जयावा सिद्ध हो रहे हैं, कृतिकार कम।

एडवर्ड एल्बी का नया नाटक 'एनीमिय इन द नार्बन' उसके पुराने नाटका का एक नए अंगेरी नाटककार माइन्स कुवर द्वारा संघ पर प्रदर्शित और अब प्रकाशित रूप है। इसका विषय है—हम संघ पहरीले हैं, हमें दूर-दूर रहना है। इसके तीन पात्र अपने-अपने अस्तित्व के दरक में रहते हैं। इसकी बरम-सीमा है -- नायिका की विमुक्त कर्मकाण्ड के संघ से कुर्या। सचता है वह किसी नाटककार की रचना न होकर किसी पावरी की बेतावनी है कि हे दुनिया के पतनशील सोचों, संसरो, पाप-अपराध, झूठ से सादधान ! इसमें इन्सिक्ट अयबा माहम तीन बेसी प्रतीकारकता को नहीं है। एल्बी के दो और छोटे-छोटे नाटक जाए हैं—'बाक्स' और 'कोटेसन फरम माबोले-सुंग'। ये दोनों नाटका एक ही सूत्र में बसे हैं। एक मयुन के भीतर बाक्स सुमता है और असम्बद्ध आचार्यें जसने सगती हैं। वस्तुतः ये सारी आचार्यें, कचन मृत्यु के बारे में एकतरफा सम्बाद करती हैं। इसे जयावा से जयावा लिखार का नाटकीयकरण कह सकते हैं।

इंस्लेख के रंगमंच जगत में आसबर्न जैसे कृद्ध नाटककार का सारा जोश जास्य हो गया है। इनके दो नए नाटक 'टाइम प्रेजेण्ट' और 'द शीट्स इन एम्बटरइम' केवल जयावा, कृद्धता और निरक्षर्यता को अमभव्यक्त करते हैं।

वह उनमें कृ  
सर्व तक नती  
केवल एक के  
में कभी कृद्ध  
का परिनि-

कृतिकार  
के कारण रं  
आवसायिक  
दृश्य में नाट  
बिज-विजि  
किसी एक

इंस्लेख  
कल्पना कर  
वीजन की  
प्रो एण्ड प्रो  
में देसा आ  
अपने को द

वास्ति  
अंजना के  
किया आ  
पोदा है।  
अभिनेता  
अभिनेय क  
मे  
शेष गोरे  
उनके 'ही  
कल्पनी' अ

'निके  
अकरत कृ  
का आन्दे

का मानसपुत्र है। आज के दोनों अपनी  
 गए हैं। बिहार का नवीनतम ड्रामा है  
 और बोध में १६३० के काम को है।  
 ही मनुष्य अपने सम्मान, लक्ष्य और  
 में, जब कि कैकेय, आदिस्को, वेने व्यापि  
 अस्तित्व को ही उसकी भयानकता से  
 काया भासून देता है।

के नए नाटक 'द सेवन डिसेन्स  
 ने नाटकों के इतर-उत्तर के बचे-बुके  
 गये हैं। इसमें उसके बड़े-बुके हुए  
 और स्वा है। इसी तरह दूसरी कोटि  
 देवी रोडिस्को, अपने-अपने विचारों के  
 कर।

का इन द गार्डन' उनके पुराने नाटक  
 कर द्वारा मंच पर प्रदर्शित और अब  
 सब पहरीले हैं, हमें दूर-दूर रहना  
 के नरक में रहते हैं। इसको चरम-  
 र्ग से हल्का : लगता है बड़ कियो  
 करी को बेलावनी है कि हे दुनिया के  
 से सावधान। इसमें इतिवट अथवा  
 है। एनी के वो और छोटे-छोटे  
 मम मामोले-दुब'। ये दोनों नाटक  
 र बासठ सुसता है और असम्बद्ध  
 कावार्थ, कथन मृत्यु के सारे में  
 दे स्यावा विचार का नाटकीयकरण

से इत नाटककार का सारा छोड़  
 ड्राम प्रेजेन्ट' और 'द होटल इन  
 प्रेजेन्ट' को आभावक करते हैं।

वह हममें कुछ कहता नहीं, पीछता है। जो है, उतना ही दिखता है, उसके  
 मर्म तक नहीं जाना चाहता, बल्कि उसे छूता तक नहीं। 'द'दम प्रेजेन्ट' में  
 केवल एक बेकार अस्तित्वही को सब कुछ का केन्द्र बनाया गया है, जिसके जीवन  
 में कभी कुछ नहीं घटता 'द होटल' में अपने मासिक से भागे हुए दो व्यक्तियों  
 का परिव-विपण मास है, जो होटल में भी मासिक की ही बातें कर रहे हैं।

कृतित्व-पक्ष की इस सूक्ष्मा और व्यावसायिक प्रभावों से स्वस्त नाटककार  
 के कारण रंगमंच की उस दुनिया में जो तनाशा पतना है, और जिस तरह का  
 व्यावसायिक दर्शक-वर्ग बड़ा किम मानसिक शक्तियों के क्षय जाया है, इस परि-  
 दृश्य में नाटक की स्वभावतः छोड़, तरह-तरह के चौकाने वाले, गर्मागर्म,  
 चित्र-विचित्र रंगमंच-स्वरूप प्रकट हुए हैं। उनमें रंगमंच के सारे पक्षों में से  
 किसी एक पर ही ऐसा बल है जिससे दर्शक आकर्षित हो।

इंग्लैण्ड में निर्देशक-प्रस्तुतकर्ता बरमेन ने 'दी थिएटर आफ इरोस' को  
 कल्पना करते हुए यह धोपना की है कि ड्रामा नहीं है, जो मनुष्य के वैज्ञिक  
 जीवन की प्रकृति से भेल खाता हो। उसका नया नाटक 'द थ्युडिस्ट कैम्पिस  
 ओ एण्ड पी' इंग्लैण्ड के एक केफे एम्बियान्स में बोपहर के शोकन के भवगतन  
 में खेला जाता रहा है। वहाँ हर दर्शक को नंगा होकर केवल एक पत्ती से  
 अपने को ढक कर नाटक देखने जाना हुआ है।

आस्ट्रिया के नाटककार जेकोबकिण्ड ने अपने नए नाटक 'इरजो' में अति-  
 व्यंग्यता के नाम पर पागलपन की स्थितियों को रखा है; मंच पर जो कुछ भी  
 किया जा सके, तोषा-तोषा जाए, जो कुछ भी ('हीपन') घटित किया जा सके,  
 बौद्ध है। इसमें अचिनेता दर्शक में कोई विशेष विभेद नहीं है। इसमें हर  
 अचिनेता एक 'इमी' के साथ मंच पर कोरस के रूप में उपस्थित होता है। एक  
 अभिनय करता है, दूसरा उसे मूक दर्शक के रूप में देखता रहता है।

मेज से लेकर केसीफोनिया तक नीपो जाति ने अपने आपको जिस रूप में  
 केष गोरे अमेरिका से अलग किया है, उसमें और जितनी चीजें पैदा हुई हैं, पर  
 उनमें 'अैक थिएटर' प्रमुख है। इनमें दो थिएटर प्रमुख हैं—'नीपो इन्सेम्बुल  
 कम्पनी' और 'थ्यु लेफ्टी कम्पनी'।

'नेकेड ड्रामा' के ही लिए उस वर्ष में वल तरह के रंगमंच प्रकार की  
 बरकरत हुई है, ऐसा कहना इस थिएटर का शोमित करना है। 'निबिया थिएटर'  
 का आन्दोलन अमेरिका और यूरोप में समान रूप से बढ़ रहा है। इसके

समर्पक यह महसूस करते हैं कि हमारा समाज बीमार हो गया है। अतएव वर्त्मक में फिर से मनोबैज्ञानिक, भाषाशास्त्र, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक बोध ज्ञान के लिए उसे पहले बीमारी से उठाना है, उसे जगाना है। 'ब्रुकलिन एकेडमी ऑफ म्यूजिक' ने इस तरह के रंगमंच को मास्यता दी है। विचित्र नाटक 'कैकलस्टोन', 'मिस्ट्रीज एण्ड स्मालर पीसिस', 'एण्टीगोन', और 'वेरा-बाइव नाटक' पूरे यूरोप में 'सिविंग थिएटर' द्वारा प्रस्तुत हुए हैं। इनमें दर्शक के सारे तनाव, तिलता, क्रोध, भय, नफरत दूर हो जाने की रासनायन औपचर्या है। 'सिविंग थिएटर' बहुबोध तथा आत्मगत और कसा तथा जीवन के अन्तर को मिटा बाखना चाहता है। यह मंच पर उन भव्य, श्रेय और रसवीय हस्तियों को फिर से उपस्थित कर देना चाहता है जो कभी नाटक का प्रमुख चरित्र हूँ आ करते थे।

#### सत्सर्ग का दूसरा पहलू

पर कहीं कुछ सार्थक और महत्वपूर्ण भी रखा जा रहा है। यहाँ केवल ही जबाहरण से सज्जना सम्भव है, पहला कृतित्व का, दूसरा रंगमंच-मिथ्या का। रोलफ वीच ह्य का नाटक 'सोलवर्स' जर्मन भाषा के माध्यम से एक महत्वपूर्ण कृति के रूप में सामने आता है। यह इतना प्रभावकारी, सर्वस्वर्णी नाटक है कि इसे ब्रिटेन के नेशनल थिएटर के मास्टर ओलोनियर तक को प्रस्तुत करने की आज्ञा न थी। कनाडा के एक नए थिएटर 'तोरण्टो' ने इसे पहली बार अंग्रेजी में प्रस्तुत किया और इसने अंग्रेजी समाज की जैसे हिला दिया। इसमें पश्चिम को इतिहास की उन महायुद्ध की घटनाओं और अपराधों के परिहृय में बड़ी गहराई, निर्ममता और सतस्वता से देखा गया है। यह नाटक नए ब्रुकलिन थिएटर का अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार विद्यमान युद्ध, अमेरिकी परमाणुबैज्ञानिक राबर्ट ओपन हीमर के सुकर्म जैसी सामाजिक घटनाओं की लेकर इतर कई नाटक रचे और खेले गए हैं।

#### पोलिस लेस थिएटर

पोलिस के जर्जी गोटेली का 'सेथ थिएटर' ज्ञाना की शक्ति से नए रंगमंच की प्रतिष्ठा अथवा सृष्टि में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। यह नाट्य पञ्चमी यूरोप की सबसे ज्यादा प्रसिद्ध और गम्भीर कम्पनी है। 'ब कास्टेन्ट प्रिस', 'एकोपोमिस', 'एवाकाइलिस कम्पिलरीज' से कुछ नाटक इस कम्पनी द्वारा जित्त जकीलता, गहन व्याख्यादिति और सोदर्य-बोध के साथ प्रस्तुत किए गए हैं, यह विच्छेद दशक की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि कही जाएगी।

सोहोस्की का विश्वास है—गम्भीर ड्रामा में उसकी गन्धीरता (इंटेंसिटी) को प्रकट करने के लिए मंच पर कोई पूरक उद्यम (सबस्टीट्यूट) नहीं है। ड्रामा मैनीफेस्टेशन ग्रास की तरह है, जो सूर्य के पूरे ताप को पिन के बिरे पर केन्द्रित कर देता है।

यह थिएटर सातवें दशक के रंगमंच की क्लासिकी प्रवृत्ति का परिणामक है। इस वारा के रंगकर्मियों का विश्वास है कि व्यावसायिक स्तर पर आज कोई भी सार्विक रंगमंच हो नहीं सकता। वही नहीं आधुनिकता और प्रयोग के नाम पर पिछले रंगकों में जो कुछ किया गया है वह सब मूल रूप से व्यावसायिक है। अखी रंगमंच कला गारखियों का रंगमंच होना और वह अभिनय, प्रस्तुतीकरण आदि-आदि के विषय में तत्तम नई फैशनपरस्त छारणाओं को मुला कर सदियों पहले की शास्त्रीय परंपरा को फिर प्रतिष्ठित करेगा। फिर भी कोई आश्चर्य नहीं कि पोलिस लेब थिएटर आदि के प्रयास बहुत लोकप्रिय नहीं हैं। अमेरिका में उसने हाल में जब अपने नाटक प्रदर्शित किये तो १०-४० विशेषज्ञ दर्शकों के सामने ही। यह भी स्पष्ट है कि इस दशक में पिछले दशक का 'आधुनिक' समझा जाने वाला बौद्धिक रंगमंच भी काफी हद तक उच्छेद गया। सफलता उन ओषों के हाथ नहीं जिन्होंने कृत्य, संगीत, सामयिक राजनीति, संवेदी और काम-प्रदर्शन की बिचकी सजाते हुए एक नए 'सम्पूर्ण' शास्त्रीय रंगमंच की नींव डाली। केनेथ टाउडम जैसे रंगमंच विशेषज्ञ इस 'व्यावसायिकता' को बौद्धिक जमाना सफलतापूर्वक पहचान सके। जो नया नाटक पहले बन्द छोटे थिएटरों तक सीमित था वह बहुत धूमधाम से व्यावसायिक संस्थाओं में प्रतिष्ठित हो सका। रंगमंच पर सुला रति-प्रदर्शन करने में काफी कठिनाइयों की पैदा आईं और थगुना के कान्ठकारी का नाम लेने और वामबाहक का प्रदर्शन करने वाले 'बि गुएरा' के विरुद्ध परिचय के परमिसिब (ड्रैट देने वाले) समाज को भी पुलिस कार्रवाई करती पड़ी।

मुक्त मित्त कर इसी कानुकता और कान्ठकारिता की पापचात्य रंगमंच पर धूम रही। व्यावसायिक रंगमंच में अब तक के मजिठ विषय फुट-लाइटों के सामने आए तो प्रयोगात्मक मंच ने नाटक और दर्शक को एकाकार कर के रंगमंच को सामूहिक और सामुदायिक तमाछा बनाने की कोशिश की। ऐसे तक नाटक केले गए जिनके लिए कथोपकथन पहले से लिखा नुका नहीं

म बीमार हो गया है। अतएव  
क, सामयिक और राजनीतिक  
है, उसे जगाता है। 'बुकलिन  
को मान्यता दी है। 'बकिल  
'शेब', 'एप्पीगोन', और 'पैरा-  
रस प्रस्तुत हुए हैं। इनमें दर्शक  
हो जाने की रामबाण औषधियाँ  
और कला तथा बीमम के अन्सर  
इन मन्व, श्रव्य और रमणीय  
है जो कभी नाटक का प्रमुख

का वा रहा है। यहाँ केवल दो  
का, दूसरा रंगमंच-विषया का।  
का के माध्यम से एक महत्वपूर्ण  
प्रभावशाली, सर्मास्पी नाटक है  
ओषीविपर तक को प्रस्तुत करते  
र 'तोरेन्सो' ने इसे पहली बार  
जाच को जैसे दिखा दिया। इसमें  
गर्भों और अघराणों के परिदृश्य  
देखा गया है। यह नाटक गए  
। इसी प्रकार विपतनाम युव,  
कार के मुकदमे वैली सामयिक  
केले गए हैं।

'थिएटर' ड्रामा की कक्ति से नए  
महत्वपूर्ण प्रयास है। यह नाट्य  
गम्भीर कम्पनी है। 'द कास्टेन्ट  
परीज' ये कुछ नाटक इस कम्पनी  
पर हीदर्भ-बोध के साथ प्रस्तुत  
हृदयपूर्ण जपनास्त्र कही आएगी।

११० / आधुनिक हिन्दी नाटक और रंजयच

या और कुछ में ही कथोपकथन को ही जन-स्वीकृत मान लिया गया। यद्यपि ही यह भी दृश्य है कि इस दशक में प्रयोगात्मक मंच बहुत आसानी से व्यावसायिक हो सका और एक नया नारा सुलभ हुआ—'वी काए है वी काए है'। जगते बशक में इसकी कोई प्रतिक्रिया सीधे ही होती नहीं दी जाती। कम-से-कम पाँच-सात वर्ष तक, ऐसा लगता है पश्चिम अपनी ऐतिहासिकता की बोद्धिकता का दर्जा देता रहेगा।

□ □



आधुनिक  
हिन्दी  
नाटक  
और  
गमंच

